

ISSN-0972-1002

# ŚRAMAṆA

A Quarterly Research Journal of Jainology

Vol. LXI

No. II

April-June 2010



Pārśvanātha Vidyāpīṭha, Varanasi  
पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी

# श्रमण

## ŚRAMAᅇA

A Quarterly Research Journal of Jainology

---

Vol. LXI

No. II

April-June 2010

---

*EDITOR*

Prof. Sudarshan Lal Jain

*JOINT EDITOR*

Dr. Shriprakash Pandey

*Publisher*



Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi  
(Recognized by Banaras Hindu University  
as an external Research Centre)

---

**श्रमण**

पार्श्वनाथ विद्यापीठ की त्रैमासिक शोध-पत्रिका

**ŚRAMAᅇA**

A Quarterly Research Journal of Pārśvanātha Vidyāpīᅇha

**Vol. LXI**

**No. II**

**April-June 2010**

**ADVISORY BOARD**

Dr. Shugan C. Jain, Chairman, Advisory Board

Prof. Cromwell Crawford, Univ. of Hawaii

Prof. Anne Vallely, Univ. of Canada

Prof. Peter Flugel, SOAS, London

Prof. Christopher Key Chapple, Univ. of Loyola, USA

Prof. Ramjee Singh, Bhagalpur

Prof. Sagarmal Jain, Shajapur

Prof. K.C. Sogani, Jaipur

Prof. D.N. Bhargava, Jaipur

**EDITORIAL BOARD**

Prof. S. L. Jain, Director, Parshwanath Vidyapeeth

Dr. S. P. Pandey, Asst. Director, Parshwanath Vidyapeeth

Prof. M.N.P. Tiwari, Dept. of History of Art, B.H.U., Varanasi-5

Prof. K. K. Jain, Dept. of Jaina Evam Bauddha Darshan, B.H.U.

Prof. Viney Jain, J-972, F.F. Palam Vihar, Gurgaon-7

Dr. A. P. Singh, Dept. of An. History, S.B.P.G.College, Sikandarpur, Ballia.

**ISSN: 0972-1002**

**Subscription**

Patron: Rs. 5,000.00

**Annual Membership**

For Institutions : Rs. 500.00

For Individuals : Rs. 150.00

**Life Membership**

For Institutions : Rs. 5000.00

For Individuals : Rs. 1000.00

Per Issue Price : Rs. 50.00

*Membership fee can be sent in the favour of Parshwanath Vidyapeeth*

**Published by**

**Shri Indrabhooti Barar**, for Parshwanath Vidyapeeth

I. T. I. Road, Karaundi, Varanasi-221005, Ph. 911-0542-2575521,

2575890, **Email:** pvri@sify.com, pvvaranasi@gmail.com

*Type setting-V. C. Mishra, Parvatipuri Colony, Varanasi*

*Printed at- Mahaveer Press, Bhelupur, Varanasi-221010*

## सम्पादकीय

### ‘श्रमण’ के बढ़ते चरण

पंजाब केशरी परम पूज्य श्री सोहनलाल जी महाराज की पुण्य स्मृति में आज से ७३ वर्ष पूर्व (ई. १९३७) ‘पार्श्वनाथ विद्याश्रम’ की स्थापना वाराणसी में की गई थी। कालान्तर में इस उच्च शोध शिक्षण संस्थान का नाम ‘पार्श्वनाथ विद्यापीठ’ कर दिया गया। ई. सन् १९४९ नवम्बर से पं. कृष्णचन्द्राचार्य (मुनि जी) के सम्पादकत्व में पार्श्वनाथ विद्यापीठ से ‘श्रमण’ नाम से मासिक-पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ किया गया। जैन धर्म, दर्शन, पुरातत्त्व, संस्कृति, कला, इतिहास, काव्य, आगम आदि से सम्बन्धित शोधात्मक लेखों से सुसज्जित इस पत्रिका ने शीघ्र ही समाज में और विद्वज्जगत् में शीर्ष स्थान प्राप्त कर लिया। कालान्तर में श्री भूपेन्द्रनाथ जैन (पूर्व अध्यक्ष) के पिता स्वनाम धन्य स्व. श्री लाला हरजसराय जो इस विद्यापीठ के प्रथम मंत्री थे, के सत्प्रयासों से अल्पावधि में ही यह पत्रिका लोकप्रिय हो गई।

‘श्रमण’ का प्रकाशन ४० वर्षों (ई. १९८९) तक निरन्तर मासिक पत्रिका के रूप में होता रहा। इसके बाद वर्ष ४८ (ई. १९९७) तक तीन-तीन अंकों को एक साथ जोड़कर त्रैमासिक कर दिया गया। पश्चात् वर्ष ४९ (ई. १९९०) से इस मासिक पत्रिका को विधिवत् त्रैमासिक बना दिया गया। तब से निरन्तर यह त्रैमासिक ही प्रकाशित हो रही है। बीच-बीच में अपरिहार्य कारणों से दो-दो अंकों के संयुक्ताङ्क (षाण्मासिक) निकाले गए। इसके पिछले दोनों अंक संयुक्ताङ्क ही प्रकाशित हुए हैं। मैंने इस विद्यापीठ में ११ मार्च २०१० से निदेशक का पद भार ग्रहण किया है तथा १.६.२०१० से सम्पादक के रूप में कार्य करना प्रारम्भ किया है। अब मेरा प्रयास होगा कि समय से श्रमण आपके पास पहुँच जाए। इसमें आपके सहयोग की भी अपेक्षा है।

पार्श्वनाथ विद्यापीठ के वर्तमान अध्यक्ष श्री रमेशचन्द्र बरड़ तथा मंत्री श्री इन्द्रभूति बरड़ ने इस दिशा में पूर्ण सहयोग देने का आश्वासन दिया है। विद्यापीठ के वरिष्ठ उपाध्यक्ष तथा अध्यक्ष, परामर्श मंडल, श्रमण, डॉ. शुगन चन्द जैन भी इस दिशा में पूर्ण सहयोग दे रहे हैं। उन्होंने इसकी उच्च गुणवत्ता बनाए रखने के लिए ‘श्रमण’ का परामर्श मण्डल भी बना दिया है। इसमें भारतवर्षीय तथा

विदेशी विद्वानों को जोड़ा गया है जिससे यह पत्रिका विदेशों में भी अपने चरण मजबूती से जमा सके। हम इसमें कुछ नए आयाम जोड़ना चाहते हैं जिससे यह विद्वानों के साथ जन सामान्य के लिए भी प्रतीक्षणीय हो जाए।

डॉ. सागरमल जैन जो इस विद्यापीठ के पूर्व निदेशक रहे हैं तथा वर्तमान में आप अपने प्राच्य विद्यापीठ के संचालक व निदेशक होकर भी इस विद्यापीठ के संरक्षक सदस्य भी हैं, ने ई. सन्. १९९९ में ई. सन् १९९७ तक श्रमण में प्रकाशित लेखों की सूची (वर्ष क्रमानुसार, लेखकानुसार तथा विषयानुसार) 'श्रमण अतीत के झरोखे में' शीर्षक से प्रकाशित की थी। आगे के लेखों की अद्यतन सूची को हम श्रमण के अक्टूबर-दिसम्बर २०१० के अंक में प्रकाशित करेंगे।

'श्रमण' की गुणवत्ता के बारे में आपकी सम्मतियाँ और सुझाव आमन्त्रित हैं। आपसे प्राप्त सम्मतियों को हम पत्रिका में संक्षेप में प्रकाशित करेंगे। हम यह भी चाहते हैं कि पत्रिका में विभिन्न मतों को तो दिया जाए परन्तु विवादात्मक लेख न छापे जाएँ। लेख तुलनात्मक तथा वैज्ञानिक पद्धति से लिखे गए हों, साथ ही तर्कसंगत और आगम प्रमाण से संपुष्ट हों। यदि किसी लेख विशेष में कोई विवादास्पद कथन आता भी है तो उसे लेखक का मन्तव्य माना जाय, श्रमण सम्पादकों का नहीं। यद्यपि इस अंक के प्रकाशन में सावधानी वर्ती गई है फिर भी समयभाव के कारण कुछ अशुद्धियाँ रह गई हैं। हम आशा करते हैं पाठकगण हमें क्षमा करेंगे। हम पूरा प्रयास करेंगे कि आगामी अंकों में अशुद्धियाँ न रहें।

**सम्पादक**

**सुदर्शनलाल जैन**

**MEMBERS OF THE ADVISORY BOARD  
(ACADEMIC COUNCIL)  
PARSHWANATH VIDYAPEETH**

1. **Prof. Cromwell Crawford**, Academic Director, International School for Jaina Studies, 261 Anapalau Place, Honolulu, Hawaii.
2. **Prof. Sagarmal Jain**, Founder. Director, Prachya Vidyapeeth, Dupada Road, Shajapur -465001 (M.P.)
3. **Prof. K. D. Tripathi**, Professor Emeritus, Faculty of S. V. D. V. Banaras Hindu University, Varanasi-221005
4. **Prof. M. N. P. Tiwari**, Dept. of History of Art, Banaras Hindu University, Varanasi- 221005
5. **Prof. Dharmchand Jain**, Head, Dept. of Sanskrit, J. N.Vyas University, Jodhpur (Rajasthan)
6. **Prof. S. L. Jain**, Director (Research), Parshwanath Vidyapeeth
7. **Prof. Phoolchand Jain 'Premi'**, Head, Dept. of Jaina Darshana Sampurnanand Sanskrit University, Varanasi-221002
8. **Dr. Shugan Chand Jain**, D-28, Panchsheel Enclave, New Delhi
9. **Dr. Suresh Sisodiya**, Director, Acharya Shri Nanesh Dhyan Kendra, 101, Basant Vihar, Sundarwas, Udaipur-313001
10. **Dr. A. P. Singh**, Associate Professor, Dept. of Ancient History, Shree Bajarang P.G. Degree College, Sikandarpur, Ballia (U.P)

**List of the Honorable Members  
Management Committee  
Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi**

<b>Management Committee</b>	<b>Designation</b>	<b>Place</b>
1. Sh. Romesh Chandra Barar	President	Faridabad, Haryana
2. Dr. Shugan Chand Jain	Vice President	New Delhi
3. Sh Subhash Oswal	Vice President	New Delhi
4. Sh Vijay Kumar Jain	Vice President	New Delhi
5. Kunvar Sh. Vijayanand Singh	Vice President	Varanasi, UP
6. Sh. Indrabhooti Barar	Hon. Secretary	Faridabad, Haryana
7. Sh. Ram Sharan Gupta	Joint Secretary	Faridabad, Haryana
8. Sh. Arun Jain	Treasurer	New Delhi
9. Dr. Megh Kumar Jain	Member	USA
10. Dr. Sulekh C. Jain	Member	USA
11. Sh. Arun Barar	Member	Faridabad, Haryana
12. Sh. Prathemesh Barar	Member	Faridabad, Haryana
13. Sh. Sanjay Kumar Jain	Member	Faridabad, Haryana
14. Dr. (Mrs.) Kamal Jain	Member	Gurgaon, Haryana
15. Sh. D. K. Jain	Member	New Delhi
16. Sh. Rohit Jain	Member	Faridabad, Haryana
17. Sh. Tilak Chand Jain	Member	Allahabad, UP
18. Sh. Dhanpat Raj Bhansali	Member	Varanasi, UP
19. Sh. Satish Chand Jain	Member	Varanasi, UP

# श्रमण

अप्रैल-जून २०१०

## विषयसूची

१. आदर्श और स्वस्थ जीवन जीने की कला -डॉ. सोहनराज तातेड़ 01-10
२. जैन साहित्य में वर्णित वास्तुकला: एक समीक्षात्मक अध्ययन  
-डॉ. हुकुमचन्द जैन एवं डॉ. इन्दुबाला जैन 11-21
३. जैनागमों में शिक्षा का स्वरूप -दुलीचन्द जैन 22-33
४. प्राकृत साहित्य में अंकित नारी -डॉ. अल्पना जैन 34-44
५. जैन धर्म में शान्ति की अवधारणा  
-प्रो० सागरमल जैन, अनुवादक-डॉ. राजेन्द्र कुमार जैन 45-65
६. सामाजिक क्रान्ति और जैन धर्म -डॉ. आनन्द कुमार शर्मा 66-71
७. तीर्थंकरकालीन श्रमणियों पर एक विचार दृष्टि -साध्वी विजयश्री आर्या 72-74
8. Contribution of Ācārya Mahāprajña to  
the World of Philosophy - Samani Dr. Shashiprajna 75-83
9. Karuṇā and the significance of its Social  
Implementation - Dulichand Jain 84-89
10. Potentials of Tourism with Reference  
to Varanasi and its Jaina Places -Vivek Tiwari 90-97
- विशिष्ट व्यक्तित्व 98-99
- जिज्ञासा और समाधान 100-108
- विद्यापीठ के प्रांगण में 109-115
- जैन जगत् 116-118
- साहित्य सत्कार 119-120



## आदर्श और स्वस्थ जीवन जीने की कला

डॉ. सोहनराज तातेड़

[इस आलेख में आचार्य श्री महाप्रज्ञ और उनके साहित्य को माध्यम बनाकर एक आदर्श और स्वस्थ जीवन जीने की कला को बतलाया गया है। जैन सिद्धान्तों को आधुनिक विज्ञान के साथ जोड़ते हुए नवीन रूप में रूपायित किया गया है। कुंडलिनी को तेजोलेख्या बतलाया है। शरीर, मन, कर्म और आत्मा का सम्यक् समन्वय करते हुए भावनाओं का शरीर पर क्या प्रभाव पड़ता है? लेख्या के रंगों का तथा ध्यान का शरीर पर कैसा असर पड़ता है? इन विवेचनों के माध्यम से आलेख को उपयोगी बनाया गया है।]

दर्शन, न्याय की अनेक गहन पुस्तकों का अध्ययन करके मुनि नथमल एक ओर प्रखर दार्शनिक बने तो दूसरी ओर संस्कृत, प्राकृत व्याकरण का अध्ययन करके उन भाषाओं के प्रकाण्ड विद्वान् भी बन गये। बनारस के संस्कृत विश्वविद्यालय में उन्होंने धाराप्रवाह संस्कृत में प्रवचन एवं आशुकवित्त्व किया। उनके पांडित्यपूर्ण प्रवचन को सुनकर पंडितों ने कहा—“लगतता है इन्होंने कर्ण पिशाचिनी विद्या को सिद्ध कर रखा है।” बम्बई में भारतीय विद्या भवन में अनेक उच्च कोटि के संस्कृत विद्वानों के बीच मुनि नथमल का प्रवचन हुआ, उसे सुनकर कुछ प्रोफेसरों ने पूछा—‘आपने किस विश्वविद्यालय में अध्ययन किया है?’ मुनि नथमल ने कहा—तुलसी विश्वविद्यालय में। इस नाम को सुनकर प्रोफेसर आश्चर्य चकित रह गये। मुनि नथमल ने आगे चलते आचार्य श्री तुलसी की ओर संकेत करते हुए कहा—वह है हमारा चलता फिरता विश्वविद्यालय।

आचार्यश्री महाप्रज्ञ के अनुसार अध्यात्म के मूलभूत आधार दो हैं—आत्मा और कर्म। यदि हम आत्मा और कर्म को हटा लें तो अध्यात्म आधार शून्य हो जायेगा। अध्यात्म की समूची कल्पना और व्यवस्था इस आधार पर है कि आत्मा को कर्म से मुक्त करना है। यदि आत्मा नहीं है तो किसे मुक्त किया जाय? यदि कर्म नहीं है तो किससे मुक्त किया जाय? “आत्मा को कर्म से मुक्त करना है” इस सीमा में समूचा अध्यात्म समा जाता है।<sup>१</sup> आचार्यश्री महाप्रज्ञ स्वयं एक महान् अध्यात्मयोगी थे। उन्होंने साधना के दौरान जो आत्मानुभव किया, उसका स्पष्ट विवेचन उनके साहित्य में उपलब्ध होता है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञ की दृष्टि से शिक्षा प्रणाली में संतुलन स्थापित करने वाले मुख्य चार तत्त्व हैं— (१) प्राणधारा का संतुलन, (२) जैविक संतुलन, (३) क्षमता की आस्था का जागरण तथा (४) परिष्कार-दृष्टिकोण, भावना एवं व्यवहार

का परिष्कार।<sup>२</sup> मानसिक ओर भावनात्मक विकास के लिए प्राणधारा का विकास और संतुलन आवश्यक है। प्राण के दो प्रवाह हैं— ईड़ा और पिंगला। ये प्राचीन योगशास्त्रीय नाम हैं। आज के शरीर शास्त्रीय भाषा में एक का नाम है—अनुकंपी नाड़ी तंत्र और दूसरी का नाम है—परानुकम्पी नाड़ी तंत्र। प्राण के इन दोनों प्रवाहों में जब तक संतुलन नहीं होता तब तक हम जिस प्रकार के व्यक्तित्व की परिकल्पना करते हैं, वह परिकल्पना सार्थक नहीं होती। जब प्राण का एक प्रवाह अधिक सक्रिय हो जाता है तो उद्वेगता और उच्छ्वलता पनपती है, हिंसा और तोड़फोड़ की वृत्ति बढ़ती है। यह सारा कार्य दाईं प्राणधारा की सक्रियता का परिणाम है। यदि प्राणधारा का बायां प्रवाह सक्रिय होता है तो व्यक्ति में हीन भावना का विकास होता है, भय की वृत्ति बढ़ती है, दुर्बलता आती है। दोनों का संतुलन होने पर संतुलित व्यक्तित्व का निर्माण होता है। इसके लिए समवृत्ति-श्वास-प्रेक्षा का अभ्यास बहुत महत्वपूर्ण है। आचार्यश्री महाप्रज्ञ का मानवता को अवदान “प्रेक्षाध्यान” में समवृत्ति श्वासप्रेक्षा का गहन विवेचन उपलब्ध है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने प्रेक्षाध्यान-उपसंपदा के पाँच निम्न सूत्र दिए, जिनकी साधना सतत् और प्रत्येक क्रिया के साथ हो सकती है—

१. भावक्रिया—उपसंपदा का पहला सूत्र है भाव क्रिया। जिस क्रिया-काल में जो भाव है, वह भाव पूर्ण-क्रियाकाल में बना रहे, इसी का नाम भाव-क्रिया है।<sup>३</sup>
२. प्रतिक्रिया विरति—उपसंपदा का दूसरा सूत्र है—प्रतिक्रिया विरति। क्रिया करना प्रतिक्रिया नहीं करना।
३. मैत्री—उपसंपदा का तीसरा सूत्र है मैत्री। मैत्री का अर्थ है—सबमें आत्मोपम्य बुद्धि का विकास, आत्मानुभूति का विकास। अर्थात् जैसी आत्मा मेरे में है वैसी ही आत्मा दूसरे में है, इस प्रकार की आत्मतुलता का अनुभव ही यथार्थ रूप में मैत्री है।<sup>४</sup>
४. मितभाषण—आचार्यश्री महाप्रज्ञ के अनुसार—भाषा चंचलता बढ़ाने वाली है। जो अचंचल होने की साधना करना चाहते हैं, उनके लिए यथावकाश, यथोचित वाणी का संयम आवश्यक है। मितभाषण उसी का प्रयोग है।<sup>५</sup> भगवान् महावीर ने भी मौन (वचन गुप्ति) के महत्त्व को बताते हुए उपदेश दिया—वचन गुप्ति के द्वारा मनुष्य निर्विचारता को प्राप्त करता है।<sup>६</sup>
५. मिताहार—उपसंपदा का पांचवां सूत्र है—मिताहार। साधना का मूल प्रयोजन है—रूपान्तरण। रूपान्तरण के लिए आहार शुद्धि का अभ्यास आवश्यक

है। हित-मित और सात्त्विक आहार के अभ्यास से रूपान्तरण घटित होने लगता है। जैसे-जैसे यह अभ्यास बढ़ता है, वैसे-वैसे शरीर की विद्युत बदलती है, रसायन बदलता है, चैतन्य केन्द्रों की सक्रियता बढ़ती है, उस दिन नई दुनियां का अनुभव होता है और तब आदमी इस स्वर में कहता है—जो सम्पदा आज तक नहीं मिली, वह आज हस्तगत हो गई, जो जागृति आज तक नहीं आई, वह आज आ गई।<sup>१०</sup>

अध्यात्म और विज्ञान दोनों ही सत्य की खोज के मार्ग हैं। वैज्ञानिक युग में वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपेक्षित है और शांतिपूर्ण जीवन के लिए आध्यात्मिकता भी अनिवार्य है। आध्यात्मिकता + वैज्ञानिकता = आध्यात्मिक वैज्ञानिक व्यक्तित्व। आज की अपेक्षा है कि व्यक्ति न कोरा वैज्ञानिक बने और न कोरा आध्यात्मिक बने अपितु आध्यात्मिक-वैज्ञानिक बने। इन दोनों का योग ही मानव जीवन की हर समस्या का समाधान है और जीवन विज्ञान का प्रस्थान है। आचार्यश्री महाप्रज्ञ के शब्दों में—“अध्यात्म और विज्ञान एक दूसरे के पूरक हैं। दोनों का सापेक्ष विकास जरूरी है। उनकी दृष्टि में आध्यात्मिक विकास की कसौटियाँ निम्न हैं—

१. आत्मोपम्य भावना का विकास
२. इन्द्रिय और मन पर संयम
३. दमित वासनाओं का परिष्कार
४. अनासक्ति का विकास
५. वृत्ति के संदर्भ में सामाजिक और आर्थिक परिस्थिति का बोध, वैज्ञानिक व्यक्तित्व की कसौटी—सत्य की खोज, चेतना की खोज, मानव की खोज।<sup>११</sup>

### कुंडलिनी जागरण

जैन परम्परा के प्राचीन साहित्य में ‘कुंडलिनी’ शब्द का प्रयोग नहीं मिलता। उतरवर्ती साहित्य में इसका प्रयोग मिलता है, जो कि तंत्रशास्त्र और हठयोग का प्रयोग है। हठयोग में कुंडलिनी का जो बर्णन है उसकी तुलना जैन दर्शन में तेजोलेख्या, तेजोलब्धि से की जा सकती है। आचार्य श्री महाप्रज्ञ के अनुसार कुंडलिनी का यदि वैज्ञानिक विश्लेषण किया जाय तो यह हमारी विशिष्ट प्राणशक्ति है। प्राणशक्ति का विशेष विकास ही कुंडलिनी का जागरण है।<sup>१२</sup> जैन दर्शन के अनुसार शरीर के दो प्रकार हैं—स्थूल और सूक्ष्म। अस्थि चर्ममय शरीर स्थूल है। तैजस शरीर सूक्ष्म और कर्म शरीर अतिसूक्ष्म है। हमारे पाचन, सक्रियता और तेजस्विता का मूल तैजस शरीर है। यह पूरे शरीर में व्याप्त है। आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार इसके दो विशेष केन्द्र हैं—मस्तिष्क और नाभि का पृष्ठ भाग। मन

और शरीर के बीच सबसे बड़ा सम्बन्ध-सेतु मस्तिष्क है। उससे तैजस शक्ति (प्राण शक्ति) निकलकर शरीर की सारी क्रियाओं का संचालन करती है। नाभि के पृष्ठ भाग में खाए हुए आहार का प्राण के रूप में परिवर्तन होता है। अतः शारीरिक दृष्टि से मस्तिष्क और नाभि का पृष्ठ भाग- ये दोनों तेजोलेश्या के महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन जाते हैं।<sup>१०</sup>

आचार्यश्री महाप्रज्ञ के अनुसार कुंडलिनी को जगाने के अनेक हेतु हैं। उनमें से प्रेक्षाध्यान के निम्न प्रयोग भी सशक्त माध्यम बनते हैं-

१. दीर्घश्वास प्रेक्षा-दीर्घश्वास प्रेक्षा की प्रक्रिया है। वे लिखते हैं- यदि कोई व्यक्ति प्रतिदिन एक घंटा दीर्घश्वास प्रेक्षा का अभ्यास करता है तो उसकी कुंडलिनी जागृत हो जाती है।
२. अन्तर्यात्रा-अन्तर्यात्रा में सुषुम्ना के मार्ग से चित्त को शक्ति केन्द्र से ज्ञान केन्द्र तक और ज्ञान केन्द्र से शक्ति केन्द्र तक ले जाया जाता है। चित्त की यह यात्रा कुंडलिनी को जागृत करने का महत्त्वपूर्ण माध्यम है।
३. शरीर-प्रेक्षा- शरीर दर्शन का अभ्यास पुष्ट होने पर कुंडलिनी (तैजस शक्ति) का जागरण होता है।
४. चैतन्य-केन्द्र प्रेक्षा- चैतन्य केन्द्रों को देखने से वहां के सारे अवरोध समाप्त हो जाते हैं, जिससे कुंडलिनी-जागरण सहज हो जाता है।
५. लेश्या-ध्यान-कुंडलिनी जागरण का यह सबसे शक्तिशाली माध्यम है। रंग हमारे भावतंत्र को सबसे अधिक प्रभावित करते हैं। रंगों के ध्यान से शक्ति का सहज जागरण होता है।

इस प्रकार प्रेक्षाध्यान की पूरी प्रक्रिया कुंडलिनी के जागरण की प्रक्रिया है।<sup>११</sup> अनुप्रेक्षा आदतों को बदलने का एक महत्त्वपूर्ण प्रयोग है। आचार्यश्री महाप्रज्ञ के अनुसार शरीर के किसी भी अवयव में रोग है तो उसके मस्तिष्क का संवादी अवयव रोगग्रस्त हो जाता है। अनुप्रेक्षा द्वारा मस्तिष्क के उस अवयव को प्रभावित करके रोग को नष्ट किया जाता है।<sup>१२</sup> प्रेक्षाध्यान में भावात्मक स्वास्थ्य के लिए अनेक प्रयोग सुझाए गये हैं। आचार्यश्री महाप्रज्ञ के अभिमत में भावात्मक स्वास्थ्य का मूल सूत्र है- 'वीतरागता'। वीतराग का भावतंत्र प्रशस्त और शक्तिशाली होता है। प्रेक्षाध्यान भावात्मक स्वास्थ्य की प्रक्रिया है। इसका मुख्य उद्देश्य भावतंत्र का परिष्कार करना है। यदि भाव स्वस्थ है तो मन भी स्वस्थ भी होगा और शरीर भी स्वस्थ होगा। यदि भावतंत्र अस्वस्थ है तो न मन स्वस्थ होगा और न शरीर स्वस्थ होगा। यह एक नया अभ्युगमय है। आज अधिकांश लोग शारीरिक

स्वास्थ्य की चिंता करते हैं। मानसिक और भावात्मक स्वास्थ्य को गौण कर देते हैं। इस संदर्भ में आचार्यश्री महाप्रज्ञ का मानना है कि शारीरिक स्वास्थ्य का मूल्य १०% है मानसिक स्वास्थ्य का मूल्य ३०% है और भावात्मक स्वास्थ्य का मूल्य ६०% है। अतः हम उल्टे क्रम से चलें। पहले भावात्मक स्वास्थ्य की ओर फिर मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य की चिंता करें। इस क्रम से चलने पर चिंता स्वयं अचिंता बन जायेगी।<sup>१३</sup>

‘चैतन्य’ विकास और भाव-परिष्कार का एक बहुत बड़ा माध्यम है—संकल्प शक्ति का विकास। संकल्प शक्ति का अर्थ है— कल्पना को भावना का रूप देना। आचार्यश्री महाप्रज्ञ का मानना है— संकल्प की शक्ति असीम है। उसकी असीमता को बताते हुए वे लिखते हैं— संकल्प शक्ति का विकास होने पर हम आकाश के वायुमंडल से परमाणुओं को ले सकते हैं और उन्हें इच्छित आकार में परिणमन करा सकते हैं। वैक्रियक-लब्धि के द्वारा नाना रूपों का निर्माण करना, आहारक-लब्धि के द्वारा पुतले का निर्माण करना, विचारों का संप्रेषण करना, विचारों को मंगवाना, ये सारे संकल्प शक्ति के प्रयोग हैं।<sup>१४</sup> आचार्यश्री का मानना है कि सारे ‘भाव-मोह’ की व्यूह रचना है। भावतंत्र को स्वस्थ बनाने के लिए इस मोह के चक्रव्यूह को तोड़ना आवश्यक है। इस व्यूह रचना का संचालन करने वाले दो तत्त्व हैं— अहंकार और ममकार। इनसे राग-द्वेष उत्पन्न होता है और राग-द्वेष, कषाय और नो-कषाय को उत्पन्न करते हैं। एक पूरा क्रम है— अहंकार-ममकार, राग-द्वेष, कषाय-नोकषाय और फिर योग-मन, वचन, काया की प्रवृत्ति। प्रेक्षाध्यान इस व्यूह रचना को तोड़ने का प्रयोग है।

१. चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा- मोह के चक्रव्यूह से बाहर निकलने के लिए मूल बिन्दु को पकड़ना आवश्यक है और वह है—भाव। भावतंत्र पर प्रहार करने के लिए अशुभ भावों का विरोध तथा शुभ भावों की दिशा में प्रस्थान करना जरूरी है। आचार्यश्री महाप्रज्ञ के अनुसार ज्योतिकेन्द्र, शांतिकेन्द्र और ज्ञानकेन्द्र इन तीनों चैतन्य केन्द्रों पर ध्यान करने से भावतंत्र का परिष्कार होता है।<sup>१५</sup> ज्योतिकेन्द्र पर सफेद रंग के ध्यान से क्रोध संतुलित होता है। शांतिकेन्द्र पर ध्यान करने से उत्तेजना के भाव शान्त होते हैं। भावतंत्र के परिष्कृत होने से मन में कोई विकृत चिंतन नहीं आता, वाणी से कोई कटु शब्द नहीं निकलता और शरीर की क्रिया भी बदल जाती है।

२. लेश्याध्यान- शुभ भावों को पुष्ट करने का एक महत्त्वपूर्ण प्रयोग है— लेश्याध्यान। लेश्याध्यान रंगों का ध्यान है। शुभ रंगों के ध्यान से अशुभ भाव

शुभ भाव में परिणित हो जाते हैं। लाल, पीला और सफेद— ये रंग भाव शुद्धि के कारण हैं। आचार्यश्री महाप्रज्ञ के शब्दों में—रंग रोग-निवारण का साधन है, क्योंकि यह शरीर के असंतुलन को ठीक करता है। रंग शरीर का स्वाभाविक भोजन है जो वनस्पति जगत् से प्राप्त होता है। वह सघन अवस्था में रंग ही है। अलग-अलग रंगों का अलग-अलग प्रभाव होता है जिसकी परिणति भावात्मक एवं मानसिक स्वास्थ्य है। लाल रंग के ध्यान से तेजो लेश्या के स्पंदन जागते हैं, जिससे मन की दुर्बलता समाप्त होती है, सहनशीलता का विकास होता है। पीले रंग के ध्यान से मन की प्रसन्नता, बौद्धिक विकास, प्रज्ञा का विकास तथा मस्तिष्क और नाड़ी तंत्र सुदृढ़ बनता है। श्वेत रंग के ध्यान से उत्तेजना, आवेग, आवेश, चिंता, तनाव, वासना, क्रोध आदि शांत होते हैं।<sup>६६</sup>

आचार्यश्री महाप्रज्ञ का कहना है— अधिक आहार से मल संचित होता है। नाड़ी संस्थान शुद्ध नहीं रहता और मन भी निर्मल नहीं रहता। ज्ञान और क्रिया दोनों की अभिव्यक्ति का माध्यम नाड़ी संस्थान है। नाड़ी संस्थान के कार्य में कोई अवरोध न हो, मन की निर्मलता बनी रहे, अपान वायु दूषित न हो, इन्हीं तथ्यों के आधार पर उपवास, मितभोजन, रस-परित्याग आदि मार्ग सुझाए गये हैं। निर्जरा के ये प्रथम चार भेद आहार-शुद्धि से जुड़े हुए हैं।<sup>६७</sup> आचार्यश्री महाप्रज्ञ लिखते हैं— जब हम आसन लगाते हैं तब हमारे चैतन्य केन्द्र जागृत होते हैं। ये केन्द्र या चक्र मूलतः कर्म-शरीर में हैं। वहाँ से वे प्राण शरीर से स्थूल-शरीर में प्रतिबिम्बित होते हैं। आसन के द्वारा शरीर में सक्रियता पैदा कर देने पर उसका प्रभाव प्राण शरीर और कर्म शरीर तक पहुँचता है, जिससे चक्रस्थान या चैतन्य केन्द्र सक्रिय हो जाते हैं और अपना संकुचन छोड़कर जागृत हो जाते हैं।<sup>६८</sup>

आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने एक शब्द में साधना का उद्देश्य बताते हुए लिखा है—“निज्जराट्टाए” साधना का उत्कृष्ट लक्ष्य निर्जरा है। यह अमूर्त की भाषा है। यदि इसे मूर्त की भाषा में कहें तो—साधना ‘स्वास्थ्य एवं शक्ति विकास के लिए’ है।<sup>६९</sup> ज्योतिकेन्द्र और शांति-केन्द्र पर ध्यान करने से स्वास्थ्य का विकास होता है। आनन्द केन्द्र पर ध्यान करने से सुख का विकास होता है। दर्शन केन्द्र पर ध्यान करने से ज्ञान का विकास होता है। स्वास्थ्य केन्द्र या शक्ति केन्द्र पर ध्यान करने से शक्ति का विकास होता है।<sup>७०</sup> आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने प्रयोग सुझाया— कायोत्सर्ग की मुद्रा में बैठकर मन को शांत कर अनुभव के स्तर पर देखें— मैं क्रोध नहीं हूँ, मेरी चेतना क्रोध नहीं है, प्राण की धारा उसके साथ जुड़ रही है और मैं क्रोध बन रहा हूँ। विवेक कहता है कि मैं प्राण की धारा के साथ

क्रोध को न जोड़ें। प्राण की धारा को हटाएं और क्रोध को अपनी चेतना से अलग अनुभव करें। अनुभव के स्तर पर पहुँचकर यह अनुभव करें—मैं क्रोध नहीं हूँ, मैं अभिमान नहीं हूँ, मैं घृणा नहीं हूँ, मैं राग नहीं हूँ, मैं द्वेष नहीं हूँ। ये मेरे स्वभाव नहीं हैं। इस गहराई में जाकर यह अनुभव करें और वहाँ जो शेष बचेगा, वह मैं हूँ यह विवेक की पद्धति है। यही सम्यक् दर्शन है।<sup>१९</sup>

आचार्यश्री महाप्रज्ञ के अनुसार स्वतंत्रता, पूर्णता एवं आनन्द की अनुभूति है।<sup>२०</sup> जिसके अभाव में समस्याएं उत्पन्न होती हैं और जिसके होने पर समस्याएं सुलझती हैं, उसका नाम 'अध्यात्म' है। अध्यात्म केवल आत्मानुभूति का प्रयोग है। यह सर्वथा अपदार्थ की चेतना है। इसे चेतना का सर्वोत्तम विकास कहा जा सकता है।<sup>२१</sup> आचार्य महाप्रज्ञ की मान्यता है जब कायोत्सर्ग का अभ्यास पुष्ट हो जाता है, तब यह अनुभव होता है कि—शरीर अचेतन है, मैं शरीर नहीं हूँ, श्वास नहीं हूँ, इन्द्रिय अचेतन है, मैं इन्द्रिय नहीं हूँ। मन अचेतन है, मैं मन नहीं हूँ। भाषा अचेतन है, मैं भाषा नहीं हूँ। कायोत्सर्ग के अभ्यास से शरीर, श्वास, इन्द्रिय आदि आत्मा से पृथक् हैं, यह भेद-ज्ञान होने पर ही अस्तित्व का दर्शन अर्थात् सम्यक्-दर्शन होता है। सम्यग्दर्शन के फल हैं— शान्ति, मुक्ति की चेतना, अनासक्ति, अनुकम्पा और सत्य के प्रति समर्पण।<sup>२२</sup>

आचार्यश्री महाप्रज्ञ के अनुसार—सकर्मा, सत्कर्मा और निष्कर्मा आत्मा की ये तीन अवस्थाएँ हैं जो क्रमशः बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा के ही नामान्तर हैं। जो मनुष्य शरीर और आत्मा को एक मानता है वह बहिरात्मा है। जो मनुष्य शरीर और आत्मा की भिन्नता का अनुभव करता है, वह अन्तरात्मा है। जो मनुष्य सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के द्वारा आत्मा के आवृत रूप को प्रकट करता है वह परमात्मा है।<sup>२३</sup> इन्हें क्रमशः मूर्च्छा की चेतना, जागृति की चेतना और वीतरागता की चेतना कह सकते हैं।<sup>२४</sup> आचार्य महाप्रज्ञ जी लिखते हैं—जिस व्यक्ति की अन्तर्दृष्टि जाग जाती है, उसका चिन्तन स्वस्थ हो जाता है। स्वस्थ चिन्तन का पहला सूत्र है—'अन्यत्व की अनुप्रेक्षा'। मैं शरीर से भिन्न हूँ और शरीर मुझसे भिन्न है, इस तरह शरीर का बोध होने पर व्यक्ति शरीर में होने वाली घटनाओं को द्रष्टा की भाँति देखता है। उसका संवेदन नहीं करता। अन्यत्व अनुप्रेक्षा से पहली बार उसे अनुभव होता है कि मैं अकेला हूँ। वह सोचता है, जब शरीर ही मेरा नहीं है तो दूसरा कौन मेरा होगा? एकल अनुप्रेक्षा के स्थिर होने पर एक नया चिन्तन उभरता है, वह है— आत्मा के साथ शरीर, पदार्थ, व्यक्ति का संयोग। जहाँ संयोग है, वहाँ वियोग निश्चित है। जब अनित्य अनुप्रेक्षा अनुभव

का विषय बन जाती है तब उसमें से एक आलोक की किरण निकलती है और उसे लगता है कि परिवार, पदार्थ से त्राण मात्र बुद्धिभ्रांति है। वे स्वयं अनित्य और अत्राण हैं अतः मुझे त्राण कैसे देंगे? इस प्रकार अंतर्दृष्टि के जागरण से अन्यत्व, अन्यत्व से एकत्व, एकत्व से अशरणत्व का बोध स्पष्ट हो जाता है।<sup>२७</sup>

कर्मों का विरोध करने वाली आत्मा की अवस्था का नाम संवर है। तत्त्वार्थ सूत्र में आश्रव के निरोध को संवर कहा है।<sup>२८</sup> आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने संवर का अर्थ किया है—अपने चैतन्य का अनुभव अपने अस्तित्व का बोध। यह तब तक संभव नहीं जब तक कर्मचय को रिक्त नहीं किया जाता।<sup>२९</sup> जिस प्रकार आंघी आने पर पहले दरवाजे बंद कर दिये जाते हैं और फिर झाड़ू लेकर कचरे की सफाई की जाती है, उसी प्रकार आत्मशोधन के लिए आश्रव रूपी द्वार को बंद किया जाता है। इस विरोध के द्वारा बाहर से आने वाले परमाणुओं का स्थगन हो जाता है। भगवान् महावीर ने तप के बारह भेद बतलाए हैं। इन बारह भेदों में प्रथम छः बहिरंग तपोयोग के और शेष छः अन्तरंग तपोयोग के प्रकार हैं। 'अनशन, ऊनोदरी, वृत्ति-संक्षेप, रस-परित्याग, कायक्लेश और प्रतिसंलीनता'। तपस्या के ये छः प्रकार स्थूल शरीर के माध्यम से कर्म-शरीर को प्रकम्पित करते हैं, अतः इन्हें बहिरंग तप कहा जाता है। 'प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग' तपस्या के ये छः प्रकार मन के माध्यम से कर्म-शरीर को प्रकम्पित करते हैं, अतः इन्हें अन्तरंग तप कहते हैं।<sup>३०</sup>

दार्शनिक होने के साथ कवि होना दुर्लभ संयोग माना जाता है। आचार्य महाप्रज्ञ की कविताओं को पढ़कर रामधारी सिंह 'दिनकर' और मैथिलीशरण गुप्त भी अत्यन्त प्रभावित हुए। आचार्य महाप्रज्ञ के व्यक्तित्व का मूल्यांकन करते हुए राष्ट्रकवि दिनकर ने कहा है—“हम विवेकानन्द के समय नहीं थे, हमने उनको नहीं देखा, उनके विषय में मात्र पढ़ा है, परन्तु मुनि नथमलजी आज के विवेकानन्द हैं।<sup>३१</sup> आचार्यश्री महाप्रज्ञ से जब-जब उनके विकास का रहस्य पूछा गया तो वे इसका उत्तर देते हुए कहते —“मैंने अपने लिए कुछ सफलता के सूत्र निश्चित किये हैं— मैं ऐसा कोई काम नहीं करूँगा, जो मेरे विद्यागुरु मुनि तुलसी को अप्रिय लगे। मैं ऐसा कोई काम नहीं करूँगा, जिससे मेरे विद्यागुरु को यह सोचना पड़े कि मैंने जिस व्यक्ति को तैयार किया, वह मेरी धारणा के अनुरूप नहीं बन सका। मैं किसी व्यक्ति का अनिष्ट चिन्तन नहीं करूँगा। मेरी यह निश्चित धारणा हो गई है। दूसरे का अनिष्ट चाहने वाला उसका अनिष्ट कर पाता है या नहीं कर पाता किन्तु अपना अनिष्ट निश्चित ही कर लेता है। इन सूत्रों ने 'मेरा जीवन-पथ सदा

आलोकित किया है। मुझे कभी भी दिग्भ्रान्त होने का अवसर नहीं मिला।”<sup>३२</sup>

इस प्रकार आचार्यश्री महाप्रज्ञ द्वारा लिखित साहित्य वर्तमान युग की विकट समस्याओं—तनाव, असंवेदनशीलता, आवेश, आवेग, अवसाद, आतंकवाद, हीनभावना, घृणा, धोखाधड़ी, अनैतिकता, अप्रमाणिकता, अशान्ति आदि के समाधान में एक रामबाण दवाई की तरह कारगर सिद्ध हो रहा है। आचार्य महाप्रज्ञ के साहित्य में प्रयोग व प्रशिक्षण के माध्यम से विभिन्न समस्याओं के समाधान बतलाये गये हैं। आपके साहित्य का गहन अध्ययन करने से दृष्टिकोण की विशुद्धि होती है, आदर्श जीवन जीने की प्रेरणा मिलती है तथा जीवन का सर्वांगीण विकास होता है। आपका साहित्य मानव की वर्तमान समस्याओं का समाधान कर मानवता की बहुत बड़ी सेवा कर रहा है। आज का मानव आपके साहित्य के माध्यम से दिए गये अवदानों के लिए चिरऋणी रहेगा।

### सन्दर्भ-सूची

१. जैन योग— आचार्य महाप्रज्ञ, पृ. १०
२. जीवन विज्ञान—शिक्षा का नया आयाम, आचार्य महाप्रज्ञ, पृ. ६-९
३. भीतर की ओर, आचार्य महाप्रज्ञ, पृ. ५०
४. अपना दर्पण अपना बिम्ब, आचार्य महाप्रज्ञ, पृ. ३१
५. भीतर की ओर, आचार्य महाप्रज्ञ, पृ. ५८
६. उत्तराध्ययनसूत्र, २९/५५
७. आहार और अध्यात्म—आचार्य महाप्रज्ञ, पृ. ५४
८. नया मानव नया विश्व, आचार्य महाप्रज्ञ, पृ. १६०
९. मैं हूँ अपने भाग्य का निर्माता, आचार्य महाप्रज्ञ, पृ. ८६
१०. जैन योग— आचार्य महाप्रज्ञ, पृ. १५८
११. मैं हूँ अपने भाग्य का निर्माता, आचार्य महाप्रज्ञ, पृ. ८९
१२. तुम स्वस्थ रह सकते हो, आचार्य महाप्रज्ञ, पृ. ९
१३. एकला चलो रे, आचार्य महाप्रज्ञ, पृ. २१५
१४. जैन योग, आचार्य महाप्रज्ञ, पृ. २१५
१५. ध्यान क्यों?—आचार्य महाप्रज्ञ, पृ. ८४
१६. आभामण्डल—आचार्य महाप्रज्ञ, पृ. २३९
१७. जैन योग, आचार्य महाप्रज्ञ, पृ. १२३
१८. महावीर की साधना का रहस्य, आचार्य महाप्रज्ञ, पृ. २१५
१९. मैं हूँ अपने भाग्य का निर्माता, आचार्य महाप्रज्ञ, पृ. ७२

१० : श्रमण, वर्ष ६१, अंक २ / अप्रैल-जून-१०

२०. वही, पृ. ७१
२१. किसने कहा मन चंचल है, आचार्य महाप्रज्ञ, पृ २३
२२. मैं : मेरा मन: मेरी शांति, आचार्य महाप्रज्ञ, पृ ७३
२३. अध्यात्म के रहस्य, प्रस्तुति से
२४. किसने कहा मन चंचल है, आचार्य महाप्रज्ञ, पृ १२-१३
२५. जैन योग, आचार्य महाप्रज्ञ, पृ १३
२६. महावीर की साधना का रहस्य, आचार्य महाप्रज्ञ, पृ. १९
२७. जैन योग, आचार्य महाप्रज्ञ, पृ ७०-७१
२८. तत्त्वार्थ सूत्र, आचार्य उमास्वाति, ९/१
२९. कर्मवाद, युवाचार्य महाप्रज्ञ, पृ. ९७
३०. सत्य की खोज : अनेकांत के आलोक में, आचार्य महाप्रज्ञ, पृ ७०
३१. महाप्रज्ञ : जीवन दर्शन, मुनि धनंजयकुमार, पृ. ५२
३२. वही, पृ. ७

\*

## जैन साहित्य में वर्णित वास्तु कला : एक समीक्षात्मक अध्ययन

डॉ. हुकुमचन्द जैन .  
डॉ. इन्दुबाला जैन

[वास्तु शास्त्र आज सर्वाधिक प्रसिद्ध एवं प्रचलित शास्त्रों में से एक है। जैन साहित्य में वास्तु विद्या के अनेकशः उल्लेख मिलते हैं। अपराजितपृच्छा, समरांगणसूत्रधार, प्रासादमंडन आदि जैन ग्रन्थ वास्तु-शिल्प पर प्रमुखतया प्रकाश डालते हैं। वैसे तो जैन-सिद्धान्तों के अनुसार वास्तु हेय है क्योंकि इससे मोह उत्पन्न होता है, प्राणी कामार्त हो जाता है, किन्तु आज के भौतिक युग में इसका महत्त्व काफी बढ़ गया है। आज भी जैन मन्दिरों आदि का निर्माण बिना वास्तु के सम्भव नहीं है। प्रस्तुत लेख जैन साहित्य में वास्तु विद्या के प्रकीर्ण सन्दर्भों और उनकी उपादेयता पर सम्यक् प्रकाश डालता है।]

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और उसे समाज में जीवनयापन करने के लिए रोटी, कपड़ा और मकान की आवश्यकता होती है। मनुष्य को सुखी जीवन बिताने के लिए वास्तुयुक्त मकान एवं जमीन की आवश्यकता होती है। वास्तु और कला से मिलकर वास्तुकला शब्द बना है जिसका अर्थ निम्नवत है—

कला-भौतिक पदार्थों में कला ही सौन्दर्य एवं सजीवता की सृष्टि करती है। सौन्दर्य सृष्टि अथवा भावनाओं की सजीव, साकार और मौलिक अभिव्यक्ति कला है, साहित्य के क्षेत्र में कला को ललित कला कहा गया है। कलाकारों ने ललित-कलाओं को पाँच भागों में विभाजित किया है— काव्य, संगीत, चित्र, मूर्ति और वास्तुकला। भौतिक आधार होने के कारण वास्तुकला को जैन दृष्टि से निकृष्ट कहा गया है किन्तु भौतिक युग में इसे भौतिक सुख एवं वैभव का आधार माना गया है।<sup>१</sup>

वास्तु का अर्थ— प्राणियों के निवास स्थान को वास्तु कहा गया है।<sup>२</sup> पाइयसद्महण्णव में वत्थु का अर्थ 'घर' या 'गृह' या गृह-निर्माण शास्त्र दिया

- सह-आचार्य, जैनेलॉजी एण्ड प्राकृत विभाग, मोहललाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर।

गया है। खेत्त-वत्थु विहिपतिमाणां करेइ।<sup>३</sup> जैन आगमों में वत्थु का अर्थ घर, मकान या निर्माण-कला है। अर्द्धमागधी शब्दकोष में घर या घर आदि बनाने का ज्ञान वास्तु बताया गया है जिसे आज कला (आर्किटेक्ट) कहा जाता है।<sup>४</sup> डॉ. जगदीश चन्द्र जैन ने अपने ग्रन्थ 'जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज' में इसे 'गृह-निर्माण-विद्या' भी कहा है। इसे वास्तु पाठक भी कहा है। यह स्थापत्य कला में आती है।<sup>५</sup> हेमचन्द्र ने अपने अभिधानचिन्तामणि नामक ग्रन्थ में कहा है- 'गहू भूर्वास्तु' अर्थात् गृह निवास ही वास्तु है।<sup>६</sup>

इस तरह जैन साहित्य में वास्तु का अर्थ गृह या भूमि, या वास-स्थल किया गया है या गृहनिर्माण की विद्या को वास्तु-विद्या या वास्तु-कला कहा जा सकता है।

**उत्पत्ति-** वास्तु की उत्पत्ति के सम्बन्ध में वास्तु-शिल्प के प्राचीन अपराजित-पृच्छा नामक बृहत् ग्रन्थ में लिखा है कि-अंधकासुर का विनाश करने के लिए महादेव जी को युद्ध करना पड़ा। इसके परिश्रम से महादेव जी के कपाल से पसीने की एक बूंद भूमि के ऊपर स्थापित अग्रिकुंड में गिरी, इससे एक महाकाय भूत उत्पन्न हुआ। उसे देवों ने औंधा पटक दिया और उसके ऊपर पैंतालीस देव चढ़ बैठे और रहने लगे। इन देवों द्वारा महाकाय भूत के ऊपर बने निवास स्थान को वास्तु पुरुष माना गया। इसलिए गृहादि के प्रारम्भ में और समाप्ति में इन देवों का पूजन प्रचलित हुआ, जो वास्तु पूजन के नाम से प्रसिद्ध है।<sup>७</sup> वास्तु-कला का जैन साहित्य में विस्तृत वर्णन है। इसके अन्तर्गत मन्दिर, मूर्ति, वापिका, राजमहल, चैत्य, स्तम्भ, मंडप, जाली, गवाक्ष आदि भी आते हैं।

वास्तु-कला के प्रमुख ग्रन्थ-वास्तु-शिल्प जानने के लिए अपराजितपृच्छा, समरांगणसूत्रधार, प्रासादमंडन, शिल्परत्नम्, मयमतम्, परिणाममंजरी द्रष्टव्य जैन ग्रन्थ हैं। वास्तु-शिल्प के लिए वत्थुसारपयरण, जिनसंहिता, प्रश्नव्याकरण, ज्ञाताधर्मकथा, प्रतिष्ठासार, जोणिपाहुड, आदिपुराण, यशस्तिलकचम्पू, रयणचूडरायचरियं, रयणसेहरीणीवकहा, प्रतिमा-विज्ञान आदि प्रमुख ग्रन्थ भी हैं। इनके अतिरिक्त मृच्छकटिकम्, पउमचरियं, जयोदय महाकाव्य आदि ग्रन्थ भी हैं जो वास्तुकला पर प्रकाश डालते हैं। अन्य कई जैन साधु-साध्वियों ने भी वास्तु-कला पर ग्रन्थ लिखे हैं।

**वास्तु-शिल्प का क्षेत्र-** वास्तुशिल्प के उपयोग क्षेत्र हैं- देवालय, मूर्ति स्तम्भ, समोसरण, गुम्बज, चैत्य, वापिका, गन्धकुटी, ध्वजनिर्माण, प्रासाद आदि।

मन्दिर ( जिनालय )- पउमचरिउ के अनुसार मुनिसुव्रत तीर्थकर के तीर्थ में सम्पूर्ण भरत क्षेत्र जिनेन्द्र भवनों से सुशोभित था। तत्कालीन जिनालय विशाल तथा बहुमूल्य धातुओं से निर्मित होते थे। लंका नगरी में श्री शान्तिनाथ जिनेन्द्र का मन्दिर हजारों ( स्तंभों ) खंभों वाला था। शरत् कालीन मेघ के समान सफेद, अनेक प्रकार के चित्रों से सजा हुआ तथा ऊपर उठी हुई पताका से युक्त था। ऐसा लगता था जैसे- नीचे उतरा हुआ स्वर्ग-विमान हो।<sup>१</sup> वास्तु-कला से युक्त होने के कारण सौम्य एवं सुखद था। ऐसे ही शान्तिनाथ जिनालय का वर्णन रयणचूडरायचरियं में भी विद्यमान है, जो निम्न है- 'रयणचूड में तीन बार मन्दिरों का उल्लेख हुआ है, उसमें एक ऋषभदेव का मन्दिर है जिसमें सैकड़ों स्वर्ण खम्भे थे। उसके शिखर आकाश तल को छूने वाले थे, उस पर स्वर्ण के कलश थे।' मन्दिर का दूसरा प्रसंग शान्तिनाथ जिन मन्दिर का है जिससे स्थापत्य ( वास्तु ) कला के सम्बन्ध में निम्न जानकारी मिलती है- ( १ ) वह मन्दिर ऊँची और विशाल चौकी पर निर्मित था। ( २ ) उसका फर्श स्फटिकमणि से बना हुआ था। ( ३ ) दीवार मरकत मणि से सुशोभित थी। ( ४ ) करोंत की तरह उसका परकोटा था। ( ५ ) उसमें एक विजय द्वार एवं बड़ा दरवाजा था। ( ६ ) उसका तोरणद्वार कई प्रकार के मणियों से संचित था। ( ७ ) मन्दिर के ऊँचे शिखरों पर चढ़ने के लिए सोपान पंक्ति थी। ( ८ ) पताकाओं में मनोहर आवाज वाले घूँघरू बंधे हुए थे। ( ९ ) मन्दिर में सोने और रत्न की बनी हुई शालभंजिकाएँ थीं।<sup>१०</sup> तीसरा उल्लेख अमरदत्त और मित्रानंद की कथा के प्रसंग में पाटलीपुत्र में एक मन्दिर के दर्शन का प्रसंग है जो बगीचों और वापिकाओं से घिरा हुआ था। उसकी कारीगरी श्रेष्ठ थी। उस मन्दिर का करोड़क भाग श्रेष्ठ शालभंजिकाओं से सुशोभित था। वहाँ अनेक प्रकार की जीवों की आकृतियाँ बनी हुई थीं। मन्दिर के बायीं ओर काम रति की तरह रूपवती स्तंभ शालभंजिका थी।<sup>११</sup> ऐसा ही स्थापत्य एवं वास्तुकला, खजुराहो के शान्तिनाथ जिन मन्दिर में और उसी समय ( ११वीं शताब्दी ) के आबू के जैन मन्दिर में है। इस तरह की कला राणकपुर के जैन मन्दिरों में भी मिलती है जहाँ हवा के प्रवाह से पताकाओं की घंटियाँ मधुर आवाज करती रहती हैं।<sup>१२</sup> इसी तरह का वर्णन १५वीं शताब्दी में आचार्य जिनहर्ष गणि ने अपने 'रयणसेहरीणीवकहा' में भी उल्लेख किया है।<sup>१३</sup> इस प्रकार प्राचीन काल से लेकर आज तक बड़े मन्दिर बन रहे हैं जो वास्तु सन्दर्भ में दर्शनीय हैं, जैसे-देवगढ़ के जैन मन्दिर, खजुराहो का शान्तिनाथ मन्दिर आदि। ऐसे ही जिनालयों, मन्दिरों, मूर्तियों के उल्लेख अन्य जैन साहित्य में भी मिलते हैं।

मूर्तियाँ- मन्दिरों में जो मूर्तियाँ होती थीं वे भी वास्तु-कला से युक्त थीं। कुवलयमाला में तीर्थकरों की मूर्तियों में वास्तु-कला के दर्शन होते हैं, जिसमें पद्मदेव सौधर्म विमान से जिनगृह में प्रविष्ट हुआ, वहाँ स्थापित जिन-प्रतिमाओं में कोई स्फटिक मणि से, कोई सूर्यकान्त मणि से, कोई महानील मणि से, कोई कर्केतन रत्न से, कोई प्रतिमा मुक्ताफल से निर्मित थीं।<sup>१४</sup> मुक्ताशैल से निर्मित शिवलिंग तथा चषक का उल्लेख बाणभद्र ने अपनी कादम्बरी में भी किया है।<sup>१५</sup> इसी तरह मूर्तियों में वास्तु-कला के दर्शन-रयणचूड में शान्तिनाथ एवं ऋषभदेव की मूर्ति में मिलते हैं। ये मूर्तियाँ श्वेताम्बर मूर्तियों के अनुरूप हैं। शान्तिनाथ मन्दिर की मूर्ति को आठ प्रातिहार्यों से युक्त बताया गया है, जो त्रिभुवन के प्रभुत्व के सूचक थे। वह मूर्ति अपने प्रशान्त शरीर को तथा वीतरागता को प्रकट कर रही थी। दृष्टि के शान्तराग से करुणरस को सूचित कर रही थी। प्रसन्न मुख-कमल से समस्त प्राणियों के प्रति मैत्री भाव प्रकट कर रही थी। वह मूर्ति स्वर्ण एवं रत्नों से निर्मित, पुष्पों से अलंकृत एवं दिव्य आभूषणों से सुशोभित थी। रयणचूड में मूर्तिकला से सम्बन्ध रखने वाली शालभंजिका का कई बार उल्लेख हुआ है। यह शालभंजिका अत्यन्त सुन्दर, रमणीय एवं मनमोहक थी।<sup>१६</sup> डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल ने अपने ग्रन्थ 'कादम्बरी का सांस्कृतिक अध्ययन' में इस पर विशेष प्रकाश डाला है।<sup>१७</sup> ऐसी ही शालभंजिका का वर्णन उद्योतन सूरि ने अपनी कुवलयमाला<sup>१८</sup> में समोसरण की रचना के प्रसंग में किया है। पाणिनि की अष्टाध्यायी<sup>१९</sup> तथा वात्स्यायन की जयमंगला टीका में भी इसपर विस्तार से वर्णन मिलता है। चैत्यालय के ऊपरी भाग में उत्कीर्ण पुतलियों पर मोहित होना बताया गया है तथा राजवल्लभकृत पद्मावतीचरित में भी राजपुत्र चित्रसेन का पुतलियों पर मोहित होना बताया गया है। पउमचरियं में वास्तु को ध्यान में रखते हुए जिनालय में स्थापित जिन-मूर्ति की पूजा आदि का पूरा ध्यान रखा जाता था तथा उस मूर्ति का अपमान करने से बड़े भारी पाप का बन्ध होता था, जो कालान्तर में महादुःख पैदा करता था। रानी कनकोदरी ने अपने सौतन से रुष्ट होकर जिन-प्रतिमा को चैत्यगृह से उठाकर घर के अन्य भाग में रख दिया था। आर्थिका द्वारा समझाने पर पुनः चैत्यगृह में रख दिया, फिर भी जिनप्रतिमा के अपमान के कारण अगले जन्म में अन्जना को २२ वर्ष तक पतिवियोग एवं चारित्रिक कलंक के दुःख को सहना पड़ा।<sup>२०</sup> मन्दिरों पर ध्वजाओं का फहराना भी आवश्यक था। ध्वजा, देव मन्दिर का आवश्यक अंग था। ठक्करफेरू ने अपने वत्थुसारपयरण में लिखा है कि 'देव मन्दिर के शिखर पर ध्वजा न हो तो उस मन्दिर में असुरों का निवास होता है।'<sup>२१</sup> जयोदय महाकाव्य में देवाल्यों

को गगनचुम्बी एवं ध्वजा से युक्त कहा गया है।<sup>२२</sup> मन्दिर शब्द का दूसरा अर्थ भवन तथा नगर है। समरांगणसूत्रधार के १८वें अध्याय में मन्दिर का अर्थ राजप्रासाद या भवन है। अमरकोश में भी भवन अर्थ में मंदिर शब्द प्रयुक्त हुआ है।<sup>२३</sup>

**प्रासाद-** राजप्रश्नीयसूत्र में सूर्याभदेव के विमान (प्रासाद) का वर्णन किया गया है जिससे पता चलता है कि वास्तुविद्या उन दिनों पर्याप्त विकसित हो चुकी थी। यह विमान चारों ओर से प्राकारों से परिवेष्टित था तथा सुन्दर कपि-शीर्षकों (कंगूरों) से अलंकृत था। इसके चारों ओर द्वार बने हुए थे जो ईहामृग, वृषभ, नरतुरय, मगर, विहग, सर्प, किन्नर<sup>२४</sup> आदि से अलंकृत थे। इसके ऊपर विद्याधर युगल की आकृति वाली वेदिकाएँ बनी हुई थीं। ऐसे ही राज-प्रासादों के वर्णन अन्य कई ग्रन्थों में मिलते हैं। मृच्छकटिकम् में शूद्रक, शकार एवं चारुदत्त के प्रासाद की भव्यता के वर्णन के साथ वसन्तसेना के महल के आठ प्रकोष्ठों का वर्णन वास्तु-कला से ओत-प्रोत है।<sup>२५</sup> इसी प्रकार अन्य धनाढ्य पुरुषों के प्रासाद वर्णन में वास्तु-कला के दर्शन होते हैं। हर्म्य, महल, अट्टालिकाओं, परकोटों के वर्णन के साथ नगर वर्णन में भी वास्तुकला के दर्शन होते हैं। आदिपुराण में अयोध्या एवं हस्तिनापुर का वर्णन वास्तु-कला से युक्त था। अयोध्या के मध्य में राजभवन था। नगरी के चारों तरफ धूलिकोट, प्राकार एवं मुख्य दरवाजों सहित पत्थर से बने सुदृढ़ कोट और परिखा थे। नगर के चारों ओर प्राकार रहना आवश्यक था। नगर के मध्य में बाजार एवं चौराहे बनाये जाते थे। छोटे मार्ग मुख्य मार्ग से मिलते थे। यह वर्णन वास्तु-शास्त्र के सिद्धान्तों पर आधारित है।<sup>२६</sup> इसी तरह के नगर वर्णन अन्य जैन साहित्य में मिलते हैं। प्रासादों में वापिका का वर्णन भी वास्तु युक्त था। ज्ञाताधर्मकथा में नंदमणिकार सेठ ने वापिका बनवायी जो वास्तुकला की दृष्टि से इतनी भव्य थी कि नंदमणिकार को उस वापिका से मोह हो गया फलस्वरूप मरकर वह उसी वापिका में मेंढक के रूप में उत्पन्न हुआ।<sup>२७</sup> वापिका या दीर्घिका का उल्लेख आदिपुराण में भी आया है जिसमें लम्बी नहर थी। उसी नहर में वापिका थी। आदिपुराण में वज्रजंघ के राजमहल में दीर्घिका का उल्लेख है, जो पूर्ण वास्तु युक्त एवं सुखद थी।<sup>२८</sup>

इस प्रकार जीवन को सुखकारी एवं आनन्दमय बनाने के लिए वापिका में धारागृह, प्रमदवन आदि क्रीड़ा स्थल बनाये जाते थे। ऐसे उल्लेख कई जैन ग्रन्थों में मिलते हैं। इसके अतिरिक्त रानियों के अन्तःपुर (रनिवास) को भी सुन्दर एवं सुखद बनाने के लिए वास्तु-कला के प्रयोग का उल्लेख मिलता है जिसमें

रानी धारिणी का शयनगृह है, जो रंगीन मणियों से रचित था। अन्दर सुन्दर चित्रकारी थी। सुगंधित पदार्थों से गृह सुशोभित था।<sup>१९</sup> ऐसा ही सुन्दर एवं रमणीय वर्णन समराइच्चकहा में मिलता है जो पूर्ण वास्तु युक्त है।<sup>२०</sup> इसके अतिरिक्त भवनोद्यान, महानसगृह, बाह्यली, आस्थान-मंडप में भी वास्तु-कला के दर्शन होते हैं। सभी का विस्तार से वर्णन यहाँ संभव नहीं है। इन सभी के अध्ययन से पता चलता है कि ये भवनोद्यान आदि प्रकाशयुक्त विभिन्न रंगीन मणियों से खचित तथा सुगन्धित होने से हृदय को सुखकारी लगते थे।

**समोसरण ( समवसरण )**— वास्तु-कला की दृष्टि से जैनधर्म में समवसरण का महत्त्व सर्वाधिक है। इसकी रचना के अन्तर्गत वास्तुकला के समस्त अंग-उपांग समाविष्ट हो जाते हैं। आदिपुराण में वर्णित समवसरण वास्तु-कला की दृष्टि से अद्भुत है। इसके बाहरी भाग में धूलिसालकोट रहता है। इसकी आकृति वलयाकार होती है। रंगीन पत्थरों से निर्मित होने के कारण इसमें इन्द्रधनुष जैसी आभा प्रतीत होती है। यह धूलिसाल अनेक रत्नों की धूलि से बना होता है।<sup>२१</sup> धूलिसाल के चारों तरफ स्तम्भ, घन्टे, चामर, ध्वजा लटकी रहती है। इसकी चारों दिशाओं में चार प्रतिमाएँ विराजमान हैं। इसमें वापिका होती है। वापिका के पास जल-परिखा है जो समोसरण की भूमि को वेष्टित करती रहती है। इसके भीतरी भाग में लता-वन होता है, जो दर्शकों के मन को अनुरक्त करता रहता है। इसके ऊपर प्रकोष्ठ, जो गोपुर-द्वारा रत्नखंचित अलंकृत एवं मणियों, रत्नों से धूसरित रहता है। समवसरण में पशु-पक्षी, देवी, देवता सभी का आगमन होता रहता है जो पूर्ण वास्तु-कला से युक्त होने के कारण दर्शनीय होता है। समोसरण का वर्णन पासणाहचरिउ, पउमचरिउं, गेमिणाहचरिउं, सुकुमालचरिउं में भी मिलते हैं। यह मनुष्यकृत है या देवकृत यह कहना अभी सम्भव नहीं क्योंकि समोसरण रचना अतिभव्य, अति विशाल एवं मनोहर है, समवसरण के अतिरिक्त नन्दीश्वर द्वीप, मेरू, अष्टापद, पाताल नगरियों आदि की रचना में वास्तुकला अपनी चरम सीमा पर है। जिसका वर्णन आज कल्पनात्मक लगता है।<sup>२२</sup> इस प्रकार देवायतन, जिनालय, हर्म्य प्रासाद, भवन, प्रमदवन, वापिकाएं, दीर्घिकाएं, आस्थान-मंडप, अन्तःपुर आदि बनाने के लिए तो प्रथमतः भूमि का परीक्षण किया जाता था, वत्थुसारपयरण में लिखा है—

दिगतिग-बीअप्पसवा चउरसा डवम्मिणी अफुद्धा अ।

असल्ला भू सुहया पुव्वेसाणुत्तरंभुवहा।

बम्भड़णी वाहिकरी ऊसरभूमिइ इवइ रोरकरी।

अइफुट्टा मिच्चुकरी दुक्खकरी तह अ ससल्ला।<sup>३३</sup>

अर्थात् जिस भूमि में बीज बोने से तीन दिन में अंकुर निकल जाये ऐसी समचौरस, दीमक रहित, बिना फटी हुई, शल्य रहित तथा पूर्व, ईशान और उत्तर दिशा की तरफ नीची भूमि मकान बनाने के लिए प्रशस्त (शुभ) है, दीमक वाली भूमि व्याधिकारक है, ऊसर भूमि उपद्रवकारक है, अधिक फटी हुई मृत्युकारक और शल्यवाली दुःखकारक है। भूमि में शल्य (हड्डी का टुकड़ा) रहना हानिकारक है। इसी ग्रन्थ में शल्य के दुष्परिणाम भी बताये गये हैं। मनुष्य की हड्डी का शल्य रह जाये तो मकान मालिक की मृत्यु हो, गधे की हड्डी का शल्य रह जाये तो राजदंड भोगना पड़े, कुत्ते का शल्य रह जाये तो बालक जीये नहीं, बालक का शल्य रह जाये तो उस मकान में मालिक का निवास न हो, गौ का शल्य रह जाये तो धन का विनाश होता है। अर्थात् भवन हेतु चुनी गयी भूमि में पानी आ जाये अथवा पाषाण आ जाये अथवा एक पुरुषप्रमाण भूमि को खोद करके कोई शल्य हो तो निकाल देना चाहिए, उसके बाद ही भूमि पर गृह बनाना चाहिए।

आधुनिक विद्वानों एवं जैन साधु-साध्वियों द्वारा वास्तु के समस्त ग्रन्थों का अध्ययन करने के बाद सार रूप में विस्तार से वर्णन किया गया है। आर्यिका विशुद्धिमति ने अपने वत्थुविज्जा में बताया है कि शल्ययुक्त भूमि में निवास से ग्राम उजड़ना, समाज में कल्ल होना, धार्मिक भावनाएं हीन होना, राज-भय, रोगोत्पत्ति, अग्निभय, परदेशगमन, मित्रनाश, सन्तान-हानि, क्लेश, पशुहानि, अकालमरण, खोटे स्वप्न, पागलपन आदि से शल्य की सूचना मिलती है।<sup>३४</sup> ऐसे शल्य युक्त भूमि के उल्लेख अन्य ग्रन्थों में भी मिलते हैं। भूमि के अधिष्ठात्री देव या मालिक की पूजा-पाठ करके या उसे सन्तुष्ट करके ही भवन कार्य प्रारम्भ करना चाहिए।<sup>३५</sup> यतिवृषभाचार्य की तिलोयपण्णत्ति में नींव के खनन के समय क्या-क्या करना चाहिए इसका विस्तार से वर्णन मिलता है तथा साथ में पंचामृत का सिंचन आवश्यक कहा गया है। देवालय, जलाशय और गृह बनाते समय दिशा का विचार करना आवश्यक है।<sup>३६</sup> मकान बनाते समय रसोई, स्नानघर, मुख्यद्वार, जल संरक्षण स्थल, नल, पानी की आवक, पानी की निकासी (नाली) चौकीदार का आवास, पूजाघर, अध्ययन कक्ष, पशुशाला, खिड़कियाँ, दरवाजे आदि कहाँ किस दिशा में रखना चाहिए आदि का विस्तार से वर्णन मिलता है तथा ऐसा नहीं करने पर दुष्परिणाम भी बताये गये हैं। वास्तुशास्त्र के ३० महत्त्वपूर्ण

सूत्र भी बताये गये हैं जिनका पालन आवश्यक है।<sup>३८</sup> भूमि का ढलान जिस कोण में होगा उसी के अनुरूप लाभ-हानि होगा इसका भी विस्तार से वर्णन है, तथा जिस प्रकार की भूमि होगी गृहस्वामी उसी प्रकार की लाभ-हानि को प्राप्त करेगा। ऐसे वर्णन अन्य कई आधुनिक वास्तुविदों के ग्रन्थों में भी मिलते हैं। विस्तार के लिए उन ग्रन्थों का अध्ययन आवश्यक है। कौन सी राशि वाले को कौन सी दिशा का गृह शुभ रहता है यह भी विचार किया जाता है, जैसे- कर्क राशि वाले व्यक्ति के लिये पूर्वदिशामुखी मकान शुभ रहता है वैसे ही अन्य सभी राशियों के बारे में विस्तार से बताया गया है।<sup>३९</sup>

मिट्टी-परीक्षण में किस वर्ण की और कैसी भूमि का उपयोग होना चाहिए इसके बारे में 'मुहूर्त गणपति' नामक पुस्तक में यह श्लोक दिया गया है- श्वेता भूमिस्तु विप्राणारक्तमा शास्ता धनुर्भृताम् ११ विशां पीताऽददत शूद्राणां श्यामा मिश्रेतरस्य च। अर्थात् श्वेत मिट्टी ब्राह्मण (विद्वान्) के लिए, लाल रंग की मिट्टी क्षत्रिय के लिए, पीले रंग की मिट्टी वैश्य के लिए तथा काली मिट्टी (शुद्र) के लिए होती है तथा स्वाद भी क्रमशः मीठा, तीखा, खट्टा एवं कड़वा होता है। इस भूमि का पानी पीकर मिट्टी के स्वाद का पता लगता है। मकान प्रारम्भ करने का समय अप्रैल-मई, जुलाई-अगस्त, फरवरी और मार्च शुभकारी है। इसके अतिरिक्त अन्य माह अशुभ हैं।

उपर्युक्त अध्ययनों के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि जो मन को प्रसन्न करे वह कला है। ६४ एवं ७२ कलाओं में वास्तु भी एक कला थी जिसको वास्तु-शिल्प भी कहते हैं। वास्तु गृह निवास या निवास अर्थ में प्रयुक्त होता है। बाद में चलकर वास्तु-पुरुष की पूजा का भी प्रचलन हुआ। प्राचीन काल में देवालियों, जिनालयों, मन्दिरों, मूर्तियों, चैत्यालयों, प्रमद वनों, परकोटों, नगरों, आस्थान-मंडपों, वापिकाओं, दीर्घिकाओं, समोसरण-रचनाओं में वास्तुकला का दिग्दर्शन होता है, समोसरण वर्णन में तो वास्तुकला ने अपनी पराकाष्ठा का रूप धारण कर लिया तब यह माना जाने लगा कि इसमें देवों ने अपनी सारी शक्ति लगा दी है। ऐसी अत्यन्त भव्य, रोचक, अतिरमणीय, समोसरण रचना मनुष्य से संभव नहीं है। इन सभी में वास्तु के नियमों का पालन करते हुए उसे रोचक, रमणीय, अत्यन्त मनमोहक बनाने के लिए विभिन्न प्रकार के रंगीन मणियों, हीरे-जवाहरात, रत्नचूर्ण, उबटन एवं सुगन्धित पदार्थों का प्रयोग किया गया है, चाहे वह राजा का प्रासाद हो, नगर हो, प्राकार हो, चाहे मन्दिर की मूर्ति हो सभी को वास्तु-कला ने अत्यन्त रोचक बना दिया है।

यह भी बताया गया है कि दूसरों के मकान में जाने के लिए अपने मकान में से रास्ता हो तो विनाशकारक है। वृक्ष का वेध हो तो संतान वृद्धि न हो, कीचड़ का वेध हो तो शोक हुआ करता है, परनाले का वेध हो तो धन का नाश होता है। कुआँ का वेध हो, अपस्मार रोग हो, शिव, सूर्य, देव आदि वेध हो तो गृहस्वामी का विनाश होता है। स्तम्भ वेध हो तो स्त्री कष्टदायक रहे, ब्रह्मा के सामने द्वार हो तो कुल का विनाश हो, गृह के समीप कांटे वाले वृक्ष हों तो शत्रु का भय रहता है, दूध वाले वृक्ष हों तो लक्ष्मी का विनाश होता है और फल वाले वृक्ष होने से संतान वृद्धि नहीं होती। मकान में बिजोरा, कसेला, दाड़िम, नीबू, अमरूद, इमली, बबूल, बेर, पीले फूल वाले वृक्ष नहीं बोलने चाहिए क्योंकि ये वृक्ष कुल के लिए हानिकारक माने जाते हैं। इसलिए मकान में केवल सरस्वती, लक्ष्मी, फल वाले वृक्षों, कलश, स्वस्तिक के ही चित्र लगाने चाहिए।<sup>५९</sup> इन सातों वेधों का फल वात्थुसार-पयरण में लिखा है कि तल वेध से कुष्ठ रोग, कोण वेध से उच्चाल, तालु वेध से भय, स्तंभवेध से कुलक्षय, कपाल और तुला वेध से धन का विनाश और दरिद्र का भाव होता है।

जैन सिद्धान्तों के अनुसार वास्तु हेय है क्योंकि इससे मोह उत्पन्न होता है। प्राणी कामार्त हो जाता है, किन्तु आज के भौतिक चकाचौंध के युग में संसार के प्राणी वास्तु के पीछे ही अपना सर्वस्व लुटा रहे हैं। इस प्रतियोगिता के युग में लोग पैसे को पानी की तरह बहा कर वास्तु-कला के माध्यम से आलीशान बंगले बनाने में लगे हुए हैं। इनका एक मात्र उद्देश्य जीवन में भौतिक सुख को प्राप्त करना है। तभी आज के वास्तुविद् करोड़पति हैं। पूर्व में केवल देवालयाँ, राजप्रासादों एवं धनिकों के भव्य भवनों में ही वास्तु-कला दिखाई देती थी किन्तु आज के युग में जो भी मकान आदि का निर्माण कराता है वास्तुविदों से जरूर सम्पर्क स्थापित करता है जिसे आज का आर्किटेक्ट इंजिनियर भी कहते हैं। प्रत्येक व्यक्ति का मानना है कि 'यावत् जीवेत् सुखम् जीवेत्। ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।' जब उसका कदम आध्यात्मिकता के सोपान पर पड़ता है तो धीरे-धीरे इन सब से निर्मोह होने लगता है।

### सन्दर्भ-सूची

१. शास्त्री नेमिचन्द्र, आदिपुराण में प्रतिपादित भारत, पृष्ठ २९१
२. मुनि हजारीमल स्मृति ग्रन्थ, पृ. ६६९
३. हरगोविन्ददास, पाइयसद्महण्णवो, पृ. ७४४
४. अर्द्धमागधी शब्दकोष, पृ. ३४१

२० : श्रमण, वर्ष ६१, अंक २ / अप्रैल-जून-१०

५. जैन जगदीशचन्द्र, जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ. ३३०-३३२
६. हेमचंद्र कृत, अभिधानचिन्तामणि नाममाला, पृ. ४४
७. (अ) मुनि, हजारीमल स्मृति ग्रन्थ, पृ. ६६९  
(ब) देखें -अपराजितपृच्छा ग्रन्थ
८. जैन, सुरेन्द्रकुमार, पउमचरियं का साहित्यिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन, पृ. २८३
९. जैन, हुकमचंद, आचार्य नेमिचन्द्र सूरिकृत रयणचूडरायचरियं का समालोचनात्मक सम्पादन एवं अध्ययन, लेखक का अप्रकाशित शोध प्रबन्ध (१७)-१
१०. वही (८६)-११
११. वही (८६)-१
१२. जैन हीरालाल, भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, पृ. ३२८ से ३३४
१३. जैन, सुधा, आचार्य जिनहर्ष गणिकृत, रयणसेहरीणीवकहा का समालोचनात्मक सम्पादन एवं अध्ययन (अप्रकाशित शोध प्रबन्ध), पृ. ४१८-४१९
१४. जैन, प्रोफेसर प्रेमसुमन, कुवलयामालाकहा का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ. ३३४
१५. (अ) कादम्बरी, अनुच्छेद १३९  
(ब) हर्षचरित, पृ. १५८
१६. जैन, डॉ. हुकमचंद, रयणचूडरायचरियं का समालोचनात्मक सम्पादन एवं अध्ययन, लेखक का अप्रकाशित ग्रन्थ, पृ. (६१)-३
१७. अग्रवाल, वासुदेवशरण, कादम्बरी का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ. ३२
१८. जैन, प्रेमसुमन, कुवलयामालाकहा का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ. ३३७
१९. (अ) पाणिनि, अष्टाध्यायी, ६.७, ७४  
(ब) शास्त्री, देवेन्द्रकुमार, भलविस्तकहा तथा अपभ्रंश कथाकाव्य, पृ. ३७८  
(स) वही, पृ. ३७८
२०. पउमचरियं, १७वां उद्देश।
२१. (अ) ठक्करफेरू कृत वत्थुसारपयरण, ३/३५  
(ब) जैन गोकुलचंद, यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ. २४८
२२. (अ) डॉ. रेखा रानी, जयोदय महाकाव्य का दार्शनिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन, पृ. २६९  
(ब) जयोदय, २१/६३
२३. भारतीय स्थापत्य, पृ. १०३
२४. जैन, जगदीशचन्द्र, जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ. ५३१
२५. शर्मा, विश्वनाथ, शुद्रक का मृच्छकटिक, पृ. २७३

२७. ज्ञाताधर्मकथा, दुर्दुर अध्ययन  
२८. शास्त्री, नेमिचन्द्र, आदिपुराण में प्रतिपादित भारत, पृ. ३०७  
२९. (अ) ज्ञाताधर्मकथा १, पृ. ३-४  
(ब) जैन, जगदीशचन्द्र, जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ. ३३४  
३०. शास्त्री, नेमिचन्द्र, हरिभद्र के प्राकृत कथा साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन,  
पृ. ३६५  
३१. डॉ. साध्वी साधना, अपभ्रंश का जैन साहित्य और जीवन मूल्य, पृ. १८७  
३२. वही, पृ. १८८  
३३. ठक्करफेरुकृत, वत्थुसारपयरण, पृ. ४-५  
३४. आर्यिका विशुद्धमति, वत्थुविज्जा, पृ. २३  
३५. आर्यिका विशुद्धमति, वत्थुविज्जा, पृ. २३  
३६. जयसेनकृत प्रतिष्ठापाठ, श्लोक ३२  
३७. आर्यिका विशुद्धमति, वत्थुविज्जा, पृ. ३४-३५  
३८. सरवाना, एस.सी., वास्तुशास्त्र दोष निवारण, पृ. ३४-३५  
३९. (अ) वही, पृ. २६-२७  
(ब) मुहूर्त गणपति, श्लोक १०  
४०. वास्तुराजवल्लभ, श्लोक १/७  
४१. (अ) ठक्करफेरुकृत वत्थुसारपयरण  
(ब) वृहत्संहिताग्रन्थ

\*

## जैनागमों में शिक्षा का स्वरूप

दुलीचंद जैन 'साहित्यरत्न'\*

[जैनागमों में शिक्षा विषयक जो सामग्री मिलती है उसका यहाँ संग्रह किया गया है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों पुरुषार्थों की पूर्णता शिक्षा का लक्ष्य रहा है। आध्यात्मिक और भौतिक दोनों शिक्षाओं का समन्वय आवश्यक है। क्योंकि बिना चरित्र के शिक्षा अर्थ शून्य है। इस आलेख को और अधिक समृद्ध करने की आवश्यकता है।]

### वर्तमान भारतीय शिक्षा

भारतवर्ष की वर्तमान शिक्षा-प्रणाली परतंत्रता काल से ही अंग्रेजों द्वारा प्रचारित शिक्षा सिद्धान्तों पर आधारित है। स्वतंत्रता प्राप्ति के तिरसठ वर्षों के बाद भी उसमें कोई मौलिक परिवर्तन नहीं हुआ। एक विचारक ने ठीक ही कहा है कि वर्तमान भारतीय शिक्षा-प्रणाली न तो 'भारतीय' है और न ही वास्तविक रूप में 'शिक्षा' है। स्वामी विवेकानन्द ने कहा है कि 'शिक्षा मात्र उन विविध जानकारियों का ढेर नहीं है, जो हमारे मस्तिष्क में दूँस-दूँस कर भर दिये जाते हैं और जो आत्मसात् हुए बिना वहाँ जीवन भर रहकर गड़बड़ मचाया करते हैं'। हमें उन विचारों की अनुभूति कर लेने की आवश्यकता है, जो 'जीवन-निर्माण', 'मनुष्य-निर्माण' तथा 'चरित्र-निर्माण' में सहायक हों।<sup>१</sup> सहस्रों वर्षों से इस देश में तीर्थंकरों, ऋषियों एवं आचार्यों ने मूल्य-आधारित शिक्षा प्रणाली का प्रचार किया है। डॉ० अल्टेकर ने प्राचीन भारतीय शिक्षा के सन्दर्भ में लिखा है—'प्राचीन भारत में शिक्षा अन्तर्ज्योति और शक्ति का स्रोत मानी जाती थी, जो शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक शक्तियों के संतुलित विकास से हमारे स्वभाव में परिवर्तन करती है और उसे श्रेष्ठ बनाती है ताकि हम एक विनीत और उपयोगी नागरिक के रूप में रह सकें।'<sup>२</sup> स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद शिक्षा पद्धति में परिवर्तन करने हेतु अनेक आयोगों का गठन हुआ और उन्होंने भी चरित्र-निर्माणकारी जीवन-मूल्यों को शिक्षा में अन्तर्भूत करने पर जोर दिया। सन् १९६४ से सन् १९६६ तक डॉ० दौलत सिंह कोठारी, जो एक प्रतिष्ठित वैज्ञानिक थे, की अध्यक्षता में कोठारी आयोग का गठन हुआ। इसने अपने प्रतिवेदन में कहा था—'केन्द्रीय एवं प्रान्तीय सरकारों को नैतिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों

\*अध्यक्ष- करुणा इन्टरनेशनल, ७०, सेम्बुदास स्ट्रीट, चेन्नई- ६००००१

पर आधारित शिक्षा का प्रबन्ध अपनी अधीनस्थ संस्थाओं में करना चाहिए।' सन् १९७५ में राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् (NCERT) ने अपने प्रतिवेदन में कहा—'विद्यालय पाठ्यक्रम की संरचना इस ढंग से की जाए कि चरित्र निर्माण शिक्षा का एक प्रमुख उद्देश्य बने।'

वर्तमान भारतीय शिक्षा प्रणाली का सबसे बड़ा दोष है कि इसमें भारत के शाश्वत राष्ट्रीय जीवन मूल्यों पर आधारित शिक्षा-दर्शन पर सम्यक् विचार तथा उनका अनुपालन नहीं हुआ। अंग्रेजों द्वारा स्थापित शिक्षा व्यवस्था आज भी उसी प्रकार से प्रचलित है। उसके परिणाम स्वरूप आज का विद्यार्थी दिशा-विहीन तथा बिना पतवार की नौका के समान भटकता दिखाई दे रहा है। शिक्षा क्षेत्र में चारों ओर अराजकता फैल गई है। अनुशासनहीनता व्यापक रूप में फैल गई है और उसका घातक प्रभाव हमारे सम्पूर्ण राजनैतिक एवं सामाजिक क्षेत्रों में भी है। महान् चिन्तक डॉ० नेमीचन्द्र जैन ने ठीक ही कहा है कि 'आज देश के पास सब कुछ है, सिर्फ एक निष्कलंक, निष्काम और देशभक्त चरित्र नहीं है।' इस भयावह परिस्थिति का सबसे बड़ा कारण है—हमारी दिशा-विहीन शिक्षा नीति। अतः आवश्यकता है कि भारतीय जीवन मूल्यों को हमारी शिक्षा-प्रणाली में अन्तर्भूत किया जाये। भारतीय अध्यात्म एवं पश्चिमी विज्ञान का समन्वय अवश्य ही हमारे शिक्षा क्षेत्र में क्रान्ति लायेगा तथा उसका अनुकूल प्रभाव हमारे सारे राष्ट्रीय जीवन पर पड़ेगा। हमारे संविधान में 'धर्म निरपेक्षता' को हमारी नीति का एक अंग माना गया है। 'धर्म निरपेक्षता' शब्द ही भ्रामक है क्योंकि भारतीय परम्परा के अनुसार हम 'धर्म' से निरपेक्ष नहीं रह सकते। धर्म निरपेक्षता का अर्थ मात्र इतना ही हो कि राज्य किसी विशेष धर्म का प्रचार नहीं करे, तब तक तो ठीक है, लेकिन इसका अर्थ धर्म से विमुख हो जाना कदापि नहीं है। हमारे देश में प्राचीन काल से ही तीन धर्मों की धाराएँ मुख्य रूप से बहती रही हैं— वैदिक धर्म, जैन धर्म और बौद्ध धर्म। बाद में सिक्ख धर्म का भी प्रारम्भ हुआ। इन चारों धाराओं ने कुछ ऐसे नैतिक व आध्यात्मिक मूल्य स्थापित किए, जिन्हें सनातन जीवन-मूल्य कह सकते हैं और वे प्रत्येक मानव पर लागू होते हैं। उनका हमारी शिक्षा प्रणाली में विनियोजित होना अत्यावश्यक है।

### जैनागमों में शिक्षा

जैनागमों में शिक्षा एवं ज्ञान के बारे में विस्तृत चर्चाएँ मिलती हैं। वहाँ पर आध्यात्मिक एवं भौतिक दोनों प्रकार की शिक्षाओं का विवेचन एवं दिशा-निर्देश मिलता है। हमें अध्यात्म-विद्या एवं आजीविका की विद्या दोनों की आवश्यकता है। आगम में शिक्षा अथवा ज्ञान प्राप्ति के तीन उद्देश्य बताए गए हैं—

जेण तच्चं विबुद्धेज्ज, जेण चित्तं पिरुज्झदि ।

जेण अत्ता विसुद्धेज्ज, तं जाणं जिणसासणे ॥<sup>६</sup>

अर्थात् जिन शासन में उसी को ज्ञान कहा गया है जिससे तत्त्वों का बोध होता है, जिससे चित्त का निरोध होता है, तथा जिससे आत्मा विशुद्ध होती है। यह आध्यात्मिक शिक्षा का स्वरूप है। दशवैकालिकसूत्र में शिक्षा के चार उद्देश्य बताए गए हैं<sup>६</sup>—

१. मुझे श्रुतज्ञान (आगम का ज्ञान) प्राप्त होगा। २. मैं एकाग्रचित्त होऊँगा। ३. मैं अपने आप को धर्म में स्थिर बनाऊँगा। ४. मैं स्वयं धर्म में स्थित होकर दूसरों को धर्म में स्थिर बनाऊँगा।

इस प्रकार शिक्षा का उद्देश्य मात्र अक्षर-ज्ञान नहीं माना गया। शिक्षा द्वारा चित्त की एकाग्रता एवं बुद्धि की स्थिरता प्राप्त होनी चाहिए तथा शिक्षार्थी को धर्म के जीवन-मूल्यों को अपनाने के योग्य बनना चाहिए। एकाग्रता के बिना व्यक्ति किसी भी क्षेत्र में सफल नहीं हो सकता। एक व्यक्ति शिक्षित हो पर मानसिक एकाग्रता से शून्य हो; उसे शिक्षा की विडम्बना ही कहना चाहिए। इसी बात को स्वामी विवेकानन्द ने कहा—‘हमें ऐसी शिक्षा चाहिए, जिससे चरित्र का निर्माण हो, मानसिक बल बढ़े, बुद्धि का विकास हो और जिससे मनुष्य अपने पैरों पर खड़ा हो सके।’<sup>६</sup> यही भारतीय संस्कृति का उद्घोष है, जो सनातन काल से चला आ रहा है। उपनिषद् में कहा है—‘या विद्या सा विमुक्तये’ अर्थात् विद्या वही है जो हमें विमुक्त करती है। विद्या किस चीज से विमुक्त करती है? तो कहा गया कि हममें जो दुःख की स्थिति है, आकुलता और व्याकुलता है, तनाव की स्थिति है, ये चाहे शारीरिक स्तर पर हों या मानसिक स्तर पर उनसे मुक्ति का साधन अन्ततोगत्वा विद्या ही है।

प्राचीन काल में शिक्षा (विद्या) के दो भेद कहे गए हैं— अपराविद्या (भौतिक ज्ञान) और पराविद्या (आध्यात्मिक ज्ञान)। जिस प्रकार से एक स्कूटर दो पहियों के बिना नहीं चल सकता है, वैसे ही पराविद्या और अपराविद्या दोनों का सामंजस्य नहीं हो तो जीवन की गाड़ी भी नहीं चलती। इस प्रकार हमारे देश के आचार्यों ने शिक्षा के सही संस्कारों का सारे देश में प्रचार-प्रसार किया। ये संस्कार हमारे राष्ट्र की सम्पदा हैं, अनमोल धरोहर हैं। हमारे देश में भौतिक ज्ञान की अवहेलना नहीं की गई किन्तु उसके साथ आध्यात्मिक ज्ञान को अपनाने पर अधिक जोर दिया गया है। जैन आचार्यों ने शिक्षा के स्वरूप की व्याख्या करते हुए अध्यात्म विद्या को महाविद्या की संज्ञा प्रदान की। ऋषिभाषितसूत्र में आया है—

इमा विज्जा महाविज्जा, सब्बविज्जाण उत्तमा ।  
 जं विज्जं साहइत्ताणां, सब्बदुक्खाण मुच्चती ॥  
 जेण बन्धं च मोक्खं च, जीवाणं गतिरागतिं ।  
 आयाभावं च जाणाति, सा विज्जा या दुक्खमोयणी ॥<sup>१०</sup>

अर्थात् वही विद्या महाविद्या है और सभी विद्याओं में उत्तम है, जिसकी साधना करने से समस्त दुःखों से मुक्ति होती है। जिस विद्या से बंध और मोक्ष का, जीवों की गति और अगति का ज्ञान होता है तथा जिससे आत्मा के शुद्ध स्वरूप का साक्षात्कार होता है, वही विद्या सम्पूर्ण दुःखों को दूर करने वाली है।  
**ज्ञान और चरित्र**

जैन आगमों में आचार्य, उपाध्याय एवं श्रमण/श्रमणियों को विद्या प्रदान करने का अधिकार दिया गया। आचार्य श्रुत-ज्ञान के प्रकाशक होते हैं अतः कहा गया है—

जब दीवा दीवसमं, पइप्पए सो य दिप्पए दीवो ।  
 दीवसमा आयरिया, दिप्पंति परं च दीवेति ॥<sup>६</sup>

अर्थात् जैसे एक दीपक से सैकड़ों दीपक जल उठते हैं और वह स्वयं भी जलता रहता है, वैसे ही आचार्य होते हैं, वे स्वयं प्रकाशमान रहते हैं और दूसरों को भी प्रकाशित करते रहते हैं। बोधपाहुड़ में कहा गया है कि आचार्य वे हैं, जो कर्म को क्षय करने वाली शुद्ध दीक्षा और शुद्ध शिक्षा देते हैं।<sup>१</sup>

जैन धर्म में श्रावक-श्राविकाओं को भी श्रुतज्ञान प्राप्त करने को कहा गया है। श्रुतज्ञान दो प्रकार से प्राप्त होता है—आचार्यों, उपाध्यायों या श्रमणों द्वारा अथवा अपने स्वयं की प्रेरणा द्वारा। लेकिन उस ज्ञान का कोई महत्त्व नहीं, जो आचार में परिणत नहीं हो। आचार्य उमास्वाति ने कहा है—

सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।<sup>१०</sup>

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तीनों की सम्मिलित आराधना द्वारा मोक्ष का मार्ग उपलब्ध होता है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है—

नादंसणिस्स नाणं, नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा ।  
 अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं ॥<sup>११</sup>

अर्थात् सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान नहीं होता। ज्ञान के बिना चारित्रगुण निष्पन्न नहीं होता। चारित्रगुण के बिना मोक्ष (कर्मक्षय) नहीं होता और मोक्ष के बिना परमशांति का लाभ नहीं होता। इसी बात को एक उदाहरण द्वारा इस प्रकार समझाया गया है—

हयं नाणं किया हीणं, हया अण्णाणओ किया ।

पासंतो पुंगलो दडढो, धावमाणो या अंधओ ॥<sup>१२</sup>

अर्थात् क्रियाविहीन का ज्ञान व्यर्थ है। अज्ञानी की क्रिया व्यर्थ है। जैसे एक पंगु वन में लगी हुई आग को देखते हुए भी भागने में असमर्थ होने से जल मरता है और अंधा व्यक्ति दौड़ते हुए भी देखने में असमर्थ होने से जल मरता है। आगे भी कहा गया कि 'संजोअसिद्धीइ फलं वयति'<sup>१३</sup> अर्थात् ज्ञान और क्रिया के संयोग से ही फल की प्राप्ति होती है।

जैन आचार्यों ने चारित्र शुद्धि पर बहुत अधिक जोर दिया है। शिक्षा द्वारा मनुष्य के उदात्त भावों की जागृति होनी चाहिए। इसमें प्रेम, करुणा, अनुकम्पा, क्षमा आदि मूल्यों का जागरण हो, वह मात्र जानकारियों तक सीमित नहीं रहे। आचारांग निर्युक्ति में कहा है—

अंगाणं किं सारो? आचारो।<sup>१४</sup>

अर्थात् अंग साहित्य का सार क्या है? उनका सार आचार है। शीलपाहुड में कहा है—

शीलेण विणा विसया, णाणं विणासंति।<sup>१५</sup>

अर्थात् शील के बिना इन्द्रियों के विषय ज्ञान को नष्ट कर देते हैं। इसी ग्रन्थ में कहा है—

शीलगुणवज्जिदाणं, णिरत्थयं माणुसंजम्मं।<sup>१६</sup>

अर्थात् शील गुण से रहित व्यक्तियों का मनुष्य जन्म पाना निरर्थक ही है। मनुष्य चाहे कितना भी ज्ञान प्राप्त कर ले, बिना चारित्र के ज्ञान का कोई मूल्य नहीं। आवश्यक निर्युक्ति में कहा है—

सुबहुंसि सुयपहीयं, किं काही चरणविप्पहीणस्स।

अंधस्स जह पलित्ता, दीवसयसहस्सकोडि वि ॥<sup>१७</sup>

अर्थात् शास्त्रों का अत्यधिक अध्ययन भी चरित्रहीन के लिए किस काम का। क्या करोड़ों दीपक जला देने पर भी अंधे को कोई प्रकाश मिल सकता है? इस प्रकार जैन आचार्यों ने उस शिक्षा को ग्रहण करने का प्रतिपादन किया जो चारित्र को उन्नत करने वाली हो।

**शिक्षाशील कौन?**

आगम शास्त्रों में शिक्षार्थी के गुणों-अवगुणों पर भी विचार किया गया है। शिक्षा प्राप्ति की योग्यता किसमें है? इसका वर्णन उत्तराध्ययनसूत्र में मिलता है—

वसे गुरुकुले निच्चं जोगवं उवहाणवं ।

पियंकरे पियंवाई से सिक्खं लद्धुमरिहई ॥<sup>१८</sup>

अर्थात् जो सदा गुरुकुल में वास करता है, योगवान और तपस्वी होता है, मृदुल होता है तथा मधुर बोलता है, वही शिक्षा प्राप्त कर सकता है।

इसी ग्रन्थ में बताया गया है कि शिक्षाशील कैसा हो— १. हँसी-मजाक नहीं करना, २. इन्द्रिय और मन पर सदा नियंत्रण रखना, ३. किसी का मर्म (रहस्य) प्रकट नहीं करना, ४. शील-रहित (आचार-विहीन) नहीं होना, ५. दोषों से कलुषित नहीं होना, ६. अति रस-लोलुप नहीं होना, ७. क्रोध नहीं करना एवं ८. सत्य में रत रहना।<sup>१९</sup>

जैन आगमों में शिक्षार्थी के लिए विनय, अनुशासन एवं प्रामाणिक जीवन पर बल दिया गया है। इन्हीं गुणों से व्यक्ति का जीवन श्रेष्ठ बनता है। उपदेशमाला में कहा है—

विणओ सासणे मूलं, विणीओ संजओ भवे ।

विणयाओ दिप्पमुक्कक्स, कओ धम्मो कओ तवो? ॥<sup>२०</sup>

अर्थात् विनय जिन-शासन का मूल है। संयम और तप से विनीत बनना चाहिए। जो विनय से रहित है, उसका कैसा धर्म और कैसा तप? दशवैकालिक सूत्र में भी कहा है—

विवत्ती अविणीयस्स, संपत्ती विणीयस्स वा ।

जस्सेयं दुहओ नायं, सिक्खं से अभिगच्छइ ॥<sup>२१</sup>

अर्थात् अविनीत को विपत्ति और सुविनीत को सम्पत्ति—ये दो बातें जिसने जान ली हैं, वही शिक्षा प्राप्त कर सकता है। इसी सूत्र में यह भी कहा गया—

एवं धम्मस्स विणओ, मूलं परमो से मोक्खो ।

जेण कित्तिं सुयं सिग्धं, निस्सेसं चाभिगच्छइ ॥<sup>२२</sup>

अर्थात् इसी तरह धर्म का मूल विनय है और मोक्ष उसका अंतिम लक्ष्य है। विनय के द्वारा ही मनुष्य जल्दी शास्त्र-ज्ञान एवं कीर्ति का संपादन करता है। अंत में निःश्रेयस् (मोक्ष) भी इसी के द्वारा प्राप्त होता है।

इस प्रकार आगम में विवेक-सम्मत आचार पर जोर दिया गया है। शिक्षार्थी प्रत्येक कार्य विवेकपूर्ण करे। कहा है—

चरदि जंद जदि णिच्चं, कमलं व चले णिरुवलेवो ॥<sup>२३</sup>

अर्थात् यदि साधक (शिक्षार्थी) प्रत्येक कार्य यतना (विवेक) से करता

है, तो वह जल में कमल की भाँति जगत् में निर्लिप्त रहता है। आगम में वाणी के विवेक पर भी जोर दिया गया। कहा है—

हिअ-मिअ-अफरुसवाई, अणुवीइभासि वाइयो विणओ ।<sup>२४</sup>

अर्थात् हित-मित, मृदु और विचारपूर्वक बोलना वाणी का विनय है। इसी प्रकार कहा है—

पुव्विं बुद्धीए पासेत्ता, तत्तो वक्कमुदाहरे ।

अचक्खुओ व नेयारं बुद्धिमनेसए गिरा ॥<sup>२५</sup>

अर्थात् पहले बुद्धि से परख कर फिर बोलना चाहिए। अंधा व्यक्ति जिस प्रकार पथ-प्रदर्शन की अपेक्षा रखता है, उसी प्रकार वाणी बुद्धि की अपेक्षा रखती है।

### शिक्षा के साधक तत्त्व

नीचे दी हुई पन्द्रह प्रकार की प्रवृत्तियों का सेवन करने वाला व्यक्ति शिक्षा के योग्य कहा गया है— १. जो नम्र होता है, जो चपल नहीं होता, ३. जो मायावी नहीं होता, ४. जो कुतूहल नहीं करता, ५. जो किसी पर आक्षेप नहीं करता, ६. जो क्रोध को टिकाकर नहीं रखता, ७. जो मैत्री करने वाले के साथ मैत्री का व्यवहार करता है, ८. जो मन का मद नहीं करता, ९. स्वखलना होने पर किसी का तिरस्कार नहीं करता, १०. मित्रों पर क्रोध नहीं करता, ११. अप्रियता रखने वाले मित्र की भी एकान्त में प्रशंसा करता है, १२. कलह और हाथापाई का वर्जन करता है, १३. कुलीन होता है, १४. लज्जावान होता है, १५. प्रतिसंलीन-इन्द्रिय और मन का संगोपन करने वाला होता है।<sup>२६</sup>

### शिक्षा के बाधक तत्त्व

उत्तराध्ययनसूत्र में शिक्षा के बाधक तत्त्वों का भी वर्णन है—

अह पंचहिं ठाणेहिं, जेहिं सिक्खा न लब्भई ।

थंभा कोहा पमाएणं रोगेणाऽलस्सएण य ॥<sup>२७</sup>

निम्न चौदह प्रकार की प्रवृत्तियों का आसेवन करने वाला अविनीत— शिक्षा के अयोग्य कहलाता है। वह निर्वाण-मानसिक शांति को प्राप्त नहीं होता है— १. जो बार-बार क्रोध करता है, २. जो क्रोध को टिका कर रखता है, ३. जो मैत्री करने वाले के साथ भी अमैत्रीपूर्ण व्यवहार करता है। ४. जो ज्ञान का मद करता है, ५. किसी की स्वखलना होने पर उसका तिरस्कार करता है, ६. मित्रों पर कुपित होता है, ७. प्रियता रखने वाले मित्र की भी एकान्त में बुराई करता है, ८. असम्बद्धभाषी है, ९. द्रोही है, १०. अभिमानी है, ११. लुब्ध है, १२.

जितेन्द्रिय नहीं है, १३. संविभाग नहीं करता है, १४. विश्वसनीय अथवा प्रीतिकर नहीं है।<sup>२८</sup>

### स्वाध्याय महत्त्व

जैन साधना में स्वाध्याय को बहुत महत्त्व दिया गया है। स्वाध्याय शिक्षा का अभिन्न अंग है। भगवान् महावीर ने कहा कि स्वाध्याय महान् तप है। बारह प्रकार के आंतरिक व बाह्य तपों में स्वाध्याय के समान तप न तो है, न हुआ है और न होगा। उत्तराध्ययनसूत्र में भगवान् से पूछा गया, 'हे भगवान् ! स्वाध्याय करने से जीव किसका लाभ प्राप्त करता है?' भगवान् ने उत्तर दिया—

सज्जाएणं नाणावरणिज्जं कम्मं खवेई।<sup>२९</sup>

अर्थात् स्वाध्याय से जीव ज्ञानावरणीय (ज्ञान को रोकने वाले) कर्मों का नाश करता है।

भगवतीसूत्र में प्रभु महावीर ने बतलाया है कि सही प्रकार से स्वाध्याय करने से मनुष्य अपने जीवन के सर्वोच्च लक्ष्य अर्थात् परमात्म-स्वरूप को प्राप्त कर सकता है—

सवणे नाणे विन्नाणे, पच्चखाणे य संजमे ।

अणणहये तवे चेव, बोदाणे अकिरिया सिद्धी ।।<sup>३०</sup>

अर्थात् धर्म-श्रमण (स्वाध्याय) से निम्न लाभ होते हैं—

१. ज्ञान, २. विशिष्ट तत्त्व-बोध, ३. प्रत्याख्यान (सांसारिक पदार्थों से विरक्ति), ४. संयम, ५. अनास्रव (नवीन कर्मों का निरोध), ६. तप, ७. पूर्वबद्ध कर्मों का नाश, ८. सर्वथा कर्मरहित स्थिति तथा ९. सिद्धि (मुक्त स्थिति)।

इससे ज्ञात होता है कि जीवन की साधना में स्वाध्याय का स्थान सर्वोपरि है।

### स्वाध्याय के अंग

जैन शास्त्रों में स्वाध्याय के बारे में विशद् विवेचन मिलता है। प्राचीन काल में जब पुस्तकों का प्रचलन नहीं था तब भी स्वाध्याय किया जाता था। उस समय ज्ञान को कंठस्थ रखने का प्रचलन था। शिष्य गुरुजनों से शास्त्र-श्रवण कर उन्हें अपनी स्मृति में सँजोकर रखते थे। वेदों को 'श्रुति' और आगम को 'श्रुत' कहा गया है, यह इसी तथ्य का सूचक है। जैन आचार्यों ने स्वाध्याय के निम्न पाँच अंगों का विस्तृत विवेचन किया है—

१. वाचना— गुरुजनों से ज्ञान ग्रहण करना, उनके प्रवचन सुनना 'वाचना' कहलाता है। बड़े-बड़े ज्ञानियों ने जो ज्ञान पुस्तकों में लिपिबद्ध किया है, उसे पढ़ना वाचना कहलाता है। पढ़ना और किसी से सद्वचन सुनना, यह दोनों वाचना

के अन्तर्गत आते हैं।

२. पृच्छना- पढ़े या सुने हुए ज्ञान के बारे में कोई शंका हो या उसका अर्थ स्पष्ट नहीं हो तो उसके बारे में जिज्ञासावृत्ति से प्रश्न पूछना ताकि विषय स्पष्ट हो जाये 'पृच्छना' कहलाता है। इससे ज्ञान सम्यक् बनता है। जैन पद्धति में प्रश्नोत्तर को पृच्छना का अंग माना गया है।

३. परावर्तना- पूर्व पठित ज्ञान को बार-बार स्मरण करना या उसका पुनः-पुनः पारायण करना ताकि पाठ भूले नहीं 'परावर्तना' कहलाता है। बार-बार याद करने से ज्ञान स्मृति में स्थायी रूप से स्थिर हो जाता है।

४. अनुप्रेक्षा- ज्ञान के बारे में निरन्तर चिन्तन-मनन करना तथा पठित ज्ञान को विभिन्न दृष्टिकोणों से समझना 'अनुप्रेक्षा' कहलाता है। इससे ज्ञान में व्यापकता आती है। अनुप्रेक्षा द्वारा स्वाध्यायी ज्ञान से गम्भीरता प्राप्त करता है।

५. धर्मकथा- जब स्वाध्यायी ज्ञान को ग्रहण कर उसे निश्शंक कर लेता है तब उससे यह अपेक्षा की जाती है कि वह अपने निर्मल ज्ञान के स्रोत से अन्य लोगों को ज्ञान देकर उनके ज्ञान में अभिवृद्धि करे। साधक वार्ता, चर्चा, प्रवचन, अध्यापन, प्रश्नोत्तर इत्यादि द्वारा अपने ज्ञान को भी सुदृढ़ करता है एवं समाज को भी लाभान्वित करता है।

### जीवन का सर्वांगीण विकास

उपरोक्त विवेचन से यह कदापि नहीं समझना चाहिए कि भारतीय शिक्षा ने जीवन के भौतिक अंगों की उपेक्षा की है। हमारे यहाँ शास्त्रों में जीवन के समग्र अंगों को लिया गया है। पुरुषार्थ द्वारा जीवन के सम्पूर्ण अंगों का विकास करना शिक्षा का उद्देश्य है। इसको स्पष्ट करने के लिए हम एक नदी का उदाहरण लें। अगर नदी के दोनों किनारे (तटबंध) मजबूत होते हैं तो उस नदी का पानी पीने के, सिंचाई के, उद्योग-धन्धों आदि के काम में आता है, उससे जीवों का कल्याण होता है। लेकिन जब उसके किनारे कमजोर पड़ जाते हैं तो नदी बाढ़ का रूप धारण कर लेती है और तब वही पानी अनेक गाँवों को जलमग्न कर देता है, अनेक मनुष्य और पशु उसमें बह जाते हैं, भयंकर त्राहि-त्राहि मच जाती है। इसी प्रकार मनुष्य का जीवन धर्म और मोक्ष के दो किनारों की तरह है। इन दो तटों की मर्यादा में अर्थ और काम का सेवन किया जाए तो मनुष्य का जीवन स्वयं के लिए एवं अन्यो के लिए भी उपयोगी और कल्याणकारी सिद्ध होता है। हमारे यहाँ जगत् और जीवन की उपेक्षा नहीं की गई। लेकिन संयममय, मर्यादानुकूल जीवन के व्यवहार पर जोर दिया गया। हमारे यहाँ पारिवारिक जीवन में इसी धर्म की भावना को विकसित करने को कहा गया। शास्त्रों में पत्नी को

‘धर्मपत्नी’ कहा गया है जो धर्म भावना को बढ़ाने वाली होती है। वह वासना की मूर्ति नहीं है। आगम में पत्नी के बारे में बड़ा सुन्दर वर्णन आता है—

भारिया धम्मसहाइया, धम्मविइज्जया ।

धम्माणुरागरत्ता, समसुहदुक्खसहाइया ॥<sup>३१</sup>

अर्थात् पत्नी धर्म में सहायता करने वाली, साथ देने वाली अनुरागयुक्त तथा सुख-दुःख को समान रूप में बंटाने वाली होती है। कहने का तात्पर्य यह है कि हम दुनियाँ की सभी सूचनाएँ प्राप्त करें, विज्ञान व भौतिक जगत् का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करें, सारी उपलब्धियाँ प्राप्त करें लेकिन इन सबके साथ धर्म के जीवन-मूल्यों की उपेक्षा न करें। उस स्थिति में विज्ञान भी विनाशक शक्ति न होकर मानव जाति के लिए कल्याणकारी सिद्ध होगा।

### तीन प्रकार के आचार्य

राजप्रश्नीयसूत्र में तीन प्रकार के आचार्यों का उल्लेख मिलता है— कलाचार्य, शिल्पाचार्य और धर्माचार्य। कलाचार्य जीवनोपयोगी ललित कलाओं, विज्ञान व सामाजिक ज्ञान जैसे विषयों की शिक्षा देते थे। भाषा, लिपि, गणित, भूगोल, खगोल, ज्योतिष, आयुर्वेद, संगीत और नृत्य इन सबकी शिक्षाएँ कलाचार्य प्रदान करते थे। जैनागमों में पुरुषों की ६४ कलाओं और स्त्रियों के ७२ कलाओं का विवरण मिलता है। शिल्पाचार्य आजीविका से सम्बन्धित शिक्षा देते थे। शिल्प, उद्योग व व्यापार से सम्बन्धित सारे कार्यों की शिक्षा देना शिल्पाचार्य का कार्य था। इन दोनों के अतिरिक्त तीसरा शिक्षक धर्माचार्य था, जिसका कार्य धर्म की शिक्षा प्रदान करना व चरित्र का विकास करना था। धर्माचार्य शील और सदाचरण का ज्ञान प्रदान करते थे। इन सब प्रकार की शिक्षाओं को प्राप्त करने के कारण हमारा श्रावक समाज बहुत सम्पन्न था। भगवान् महावीर ने कहा है— ‘जे कम्मे सूरा ते धम्मे सूरा’, अर्थात् जो कर्म में शूर होता है, वही धर्म में शूर होता है। चरित्र को उन्नत बनाएँ

आज सूचना तकनीकी का द्रुतगामी विकास हुआ है। रेडियो टी.वी., कम्प्यूटर, इंटरनेट आदि द्वारा विश्व का सम्पूर्ण ज्ञान सहजता से उपलब्ध हो रहा है, लेकिन यदि बालक के चरित्र निर्माण पर ध्यान नहीं दिया गया तो ये वैज्ञानिक साधन उसे पतित कर सकते हैं। आज विश्व के सर्वाधिक समृद्ध राष्ट्र अमेरिका का एक विद्यार्थी १८ वर्ष की उम्र तक कम से कम अनेक हत्याओं, बलात्कार आदि के दृश्य टी.वी. आदि पर देख लेता है। उस विद्यार्थी के कोमल मस्तिष्क पर भयंकर दुष्प्रभाव पड़ता है? आज यही तकनीकी हमारे देश में भी सुलभ हो गई है। अनेक प्रकार के चैनल व चलचित्र टी.वी. पर प्रदर्शित होते हैं जो

२४ घंटे चलते रहते हैं। उनमें से अनेक हिंसा एवं अश्लीलता को बढ़ावा देने वाले, हमारे पारिवारिक जीवन को विखण्डित करने वाले होते हैं। हमारी सरकार भी अधिक आमदनी की लालच में उन्हें बढ़ावा देती है। इसीलिए समाज का यह दायित्व है कि जो व्यक्ति शिक्षणशालाएँ चलाते हैं, उनके द्वारा विद्यार्थियों को चरित्र-निर्माण के संस्कार दिए जाएँ। हमें विद्यालयों में जैन संस्कारों का भी ज्ञान देना होगा, यथा माता-पिता की भक्ति, गुरु-भक्ति, धर्म-भक्ति एवं राष्ट्र भक्ति। इसी प्रकार विद्यार्थियों को मानव मात्र से प्रेम, परोपकार की भावना, जीव रक्षा के संस्कार देने होंगे। उसे यह महसूस कराना होगा कि कोई दुःखी व्यक्ति है तो उसको यथाशक्य मदद देना, सामान्य-जन के सुख-दुःख में सम्मिलित होना, किसी के भी प्रति द्वेष नहीं रखना आदि संस्कार जीवन को उत्कर्ष की ओर ले जाते हैं। आज विश्व का बौद्धिक विकास तो बहुत हुआ है पर आध्यात्मिक विकास नहीं हुआ। ढोंगी साधु अध्यात्म के नाम पर धोखा अधिक दे रहे हैं। महाकवि दिनकर की बड़ी सुन्दर उक्ति है—

बुद्धि तृष्णा की दासी हुई, मृत्यु का सेवक है विज्ञान ।

चेतता अब भी नहीं मनुष्य, विश्व का क्या होगा भगवान्? ।।

मनुष्य की बुद्धि तृष्णा की दासी हो गई है। तृष्णा निरन्तर बढ़ती जा रही है। विज्ञान का भी उपयोग अधिकांशतः विध्वंसक अस्त्रों के सर्जन में हो रहा है। ऐसी स्थिति में मनुष्य को सुख और शान्ति कैसे प्राप्त होगी?

**जैन शिक्षा का आदर्श—**

जैनागमों में शिक्षा का आदर्श था—भौतिक ज्ञान के साथ-साथ आध्यात्मिक ज्ञान का समन्वय। जैन शिक्षा के तीन अभिन्न अंग हैं— श्रद्धा, भक्ति और कर्म। सम्यग्दर्शन से हम जीवन को श्रद्धामय बनाते हैं, सम्यग्ज्ञान से हम पदार्थों के सही स्वरूप को समझते हैं तथा सम्यक् चारित्र से हम सुकर्म की ओर प्रेरित होते हैं। इन तीनों का जब हमारे जीवन में विकास होता है तभी हमारे जीवन में पूर्णता आती है। शिक्षा के द्वारा बौद्धिक विकास के साथ-साथ शिक्षार्थी का आन्तरिक व्यक्तित्व भी बदलना चाहिए। यही जैन शिक्षा का संदेश है— हम अप्रमत्त बनें, जागरूक बनें, चारित्र-सम्पन्न बनें। तभी हमारे राष्ट्र का तथा विश्व का कल्याण सम्भव है।

**सन्दर्भ-सूची**

१. शिक्षा, स्वामी विवेकानन्द, पृ. ७, प्रकाशक- रामकृष्ण मठ, नागपुर।
२. प्राचीन भारत में शिक्षा- डॉ. ए.एस. अल्तेकर, पृ. १२

३. शाकाहार-क्रान्ति (मासिक, नवम्बर-दिसम्बर २००१) पृ. ६
४. मूलाचार, गाथा २६७
५. दशवैकालिकसूत्र, गाथा २६७
६. शिक्षा, स्वामी विवेकानन्द, पृ. ८
७. इसिभासियाईसूत्र, गाथा १७/१-२
८. उत्तराध्ययनसूत्र निर्युक्ति, गाथा ८
९. बोध पाहुड़, गा. १६
१०. तत्त्वार्थसूत्र, गाथा १
११. उत्तराध्ययनसूत्र, गाथा २८/३०
१२. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा १०१
१३. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा १०२
१४. आचारांगनिर्युक्ति, गाथा १६
१५. शीलपाहुड़, गाथा २
१६. शीलपाहुड़, गाथा १५
१७. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा ९८
१८. उत्तराध्ययनसूत्र, गाथा ११/१४
१९. उत्तराध्ययनसूत्र, गाथा ११/४-५
२०. उपदेशमाला, गाथा १/३४१
२१. दशवैकालिक सूत्र, गाथा ९/२/२२
२२. दशवैकालिक सूत्र, गाथा ९/२/२
२३. प्रवचनसार, गाथा ३/१८
२४. दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा ३२२
२५. व्यवहार भाष्यपीठिका, गाथा ७६
२६. उत्तराध्ययनसूत्र, गाथा १०/१३
२७. उत्तराध्ययनसूत्र, गाथा ११/३
२८. उत्तराध्ययनसूत्र, गाथा ११/६-९
२९. उत्तराध्ययनसूत्र, गाथा २९/१९
३०. भगवतीसूत्र, गाथा २/१११
३१. उपासकदशांगसूत्र, गाथा ७/२२/७

## प्राकृत साहित्य में अंकित नारी

डॉ. कल्पना जैन \*

[लेखिका ने इस आलेख में 'नारी' के विविध रूपों का चित्रण किया है। जैसी परिस्थितियाँ प्राचीन काल में थीं वैसी आज तो नहीं हैं परन्तु नारी के वे सभी रूप (उत्कृष्ट और अधम) आज भी दृष्टिगोचर होते हैं। आज शिक्षा का प्रसार ज्यादा है तथा स्वातन्त्र्य भी अधिक है]

प्राकृत साहित्य के ग्रन्थों में समाज के विभिन्न वर्गों और विषयों का वर्णन करते समय नारी की विभिन्न स्थितियों व अवस्थाओं का अंकन भी हुआ है। प्राकृत साहित्य की प्रमुख विशेषताओं में एक विशेषता उसका कथात्मक होना है। आर्यामों की विविधताओं के कारण प्राकृत कथा साहित्य के आकाश में अनेक नारी पात्र ऐसे हैं जो अपने विशिष्ट गुणों के कारण चमकीले नक्षत्रों की भाँति जगमगाते हैं। सदाचरण, शील-पालन, साहस, त्याग, कला-कौशल, वात्सल्य एवं उत्कट प्रेम-भावना आदि जीवन मूल्यों की प्रतिष्ठा में प्राकृत कथा साहित्य में नारी पात्रों ने विश्व के कथा प्रेमियों का ध्यान अपनी और आकर्षित किया है। स्वस्थ समाज और समृद्ध राष्ट्र के निर्माण में भी इन नारियों के चरित्र आज भी पथ प्रदर्शक हैं, प्रेरणास्पद हैं। प्राकृत कथा साहित्य में नारी के विविध रूपों का जीवन्त चित्रण है। 'समराइच्चकहा', 'कुवलयमालाकहा', 'णायारंभकहा', पउमचरियं, गाथासप्तशती, धूर्ताख्यान आदि ग्रन्थों का विशेष अध्ययन करने वाले विद्वानों ने नारी के कन्या, प्रेमिका, भार्या, माता, बहिन, दासी, साध्वी आदि कई रूपों में समाज में उनकी क्या स्थिति थी, इस पर प्रासंगिक रूप से प्रकाश डाला है। इस युग के प्राकृत कथा साहित्य में अंकित कन्या, भार्या और माता को केन्द्र में रखकर ही तत्कालीन समाज में उनकी प्रतिष्ठा आदि का रेखांकन किया गया है।

### कन्या

परिवार में अन्य सदस्यों के साथ पुत्री अर्थात् कन्या का भी महत्त्वपूर्ण स्थान था। पुत्रों के समान ही पुत्री के जन्म का भी उत्सव मनाया जाता था। कुवलयमाला का जन्म होने पर पुत्र जन्म से भी अधिक उत्सव मनाया गया

\* वरिष्ठ प्राध्यापिका, प्राकृत भाषा विभाग, श्री लालबहादुर शास्त्री संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली-११००१६

था। बारहवें दिन उसका नामकरण संस्कार किया गया एवं उसके लालन-पालन की व्यवस्था की गई।<sup>२</sup> समराइच्चकहा से ज्ञात होता है कि विलासवती के जन्म होने पर उसके माता-पिता ने उसके लालन-पालन के लिए धाय नियुक्त की थी।<sup>३</sup> कन्या को स्नेहवश बचपन में अनेक अलंकारों से अलंकृत किया जाता था।<sup>४</sup> पिता के घर पुत्री का लालन-पालन बड़े स्नेह से होता था। कन्याओं को शिक्षित करना इस युग में आवश्यक माना जाता था। हरिभद्र ने विवरण दिया कि पुत्री रत्नवती की शिक्षा के लिये उसके माता-पिता ने सभी साधन जुटाये थे और अपनी पुत्री को संगीत, चित्रकला एवं कई विज्ञानों में निष्णात किया था।<sup>५</sup> कुसुमावली को बचपन से ही काव्य एवं चित्रकला की शिक्षा प्रदान की गयी थी।<sup>६</sup> शिक्षा पर इतना अधिक बल देने के कारण कुछ कन्यायें इतनी अधिक विदुषी हो जाती थीं कि वे अध्यापन कार्य भी निपुणता से करती थीं। कुवलयमाला की एक कथा में भरुकच्छ की कन्या मदनमंजरी ने अपने पिता की आज्ञा से एक राजगीर को थोड़े ही समय में अक्षरज्ञान, लिपिज्ञान, वास्तु-लक्षण, नृत्यज्ञान, सभी दर्शन, आदि की शिक्षा देकर पंडित बना दिया था।<sup>७</sup> कन्या मदनमंजरी के द्वारा पढ़ाया गया वह राजगीर भी अध्यापन कला में इतना निपुण हो गया कि उसने जंगल में पलने वाली एक कन्या को वहीं वन के वातावरण में इतने सुंदर ढंग से शिक्षा प्रदान की कि वह बाद में महाविदुषी संन्यासिनी ऐणिका बनी।<sup>८</sup> शिक्षा को ग्रहण करने वाली आगे चलकर कुशल गृहिणी बनती है। उनके गुणों के विकास में शिक्षा की विशेष भूमिका रहती है। किन्तु अशिक्षित और संस्कारों से रहित कन्यायें कुमार्ग पर जल्दी अग्रसर हो जाती हैं। समराइच्चकहा में पुन्दरभट्ट की पत्नी नर्मदा और जिनधर्म की पत्नी बन्धुलता अशिष्ट आचरण करने वाली नारियाँ थीं। जिन्होंने बचपन में कोई संस्कार प्राप्त नहीं किये थे।<sup>९</sup> एक धूर्त ने एक जुलाहे की लड़की को आकर्षित कर उसको अपने साथ भागने के लिए तैयार कर लिया। जुलाहे की लड़की ने जब अपनी सहेली राजकुमारी को साथ भाग जाने की सलाह दी तो राजकुमारी को किसी नीतिपूर्ण गाथा ने स्मरण दिलाया कि— हे आम! यदि किसी माह में कनेर के वृक्ष पर अधिक फूल आये तो तुझे उस समय फूलना उचित नहीं क्योंकि नीच लोगों के अशोभन कार्य का अनुकरण नहीं किया जाता। इस शिक्षा से राजकुमारी उस धूर्त से बचकर राज-महल में वापस लौट गई।<sup>१०</sup>

जइ कुल्ला कणियारया चुयय! अहिमासयंमि पुट्ठमि।

तुह न खयं फुल्लेउं जइ पच्चंता करिति डमराई ॥

समाज में अपनी कन्या, बहन को जो प्रतिष्ठा और सम्मान प्राप्त था, वही दूसरी कन्याओं को प्रदान करने की अपेक्षा की जाती थी। अतः कन्याओं के साथ अनैतिक संबंध एवं उनके अपहरण, संस्कार युक्त समाज में बहुत कम होते थे। महाकवि विमलसूरि ने कन्याओं को प्रतिष्ठा देने के उद्देश्य से मंदोदरी द्वारा रावण को ऐसी शिक्षा देने का प्रसंग उपस्थिति किया है। वह रावण से कहती है— जैसे आप अपनी बहन के अपहरण से क्रोधित हो उठे, वैसे ही दूसरों की कन्याओं के विषय में समझें—

परमेसर कहो विण अप्पणिय, जिह कण्ण तेम-परभाणणिया।<sup>११</sup>

इस युग में कन्या आदि के विवाह के संबंध में कई वर्णन प्राप्त होते हैं। उनसे ज्ञात होता है कि कन्या का विवाह समय पर एवं अच्छे सुयोग्य वर के साथ करने की प्रत्येक पिता की अभिलाषा होती थी। पउमचरियं में वर्णित अंजना के पिता ने जब गेंद खेलती हुई अपनी पुत्री को देखा तो शीघ्र ही वर खोजकर कन्यादान करने का निर्णय कर लिया क्योंकि यदि युवावस्था में कन्यादान न किया जाये तो वे पिता पर दोष लगा सकती हैं।<sup>१२</sup> कन्यादान के लिए वर के कुल, शील एवं कीर्ति आदि की जानकारी करना आवश्यक था।<sup>१३</sup>—

प्रायः दोनों कुलों के वैभव, संस्कार एवं शील समान होने पर ही विवाह संबंध होते थे। किन्तु कन्याएं रूप, गुण, साहस आदि से किसी युवक के प्रति आकर्षित होने पर उससे प्रेम विवाह भी करती थीं। समराइच्चकहा में द्वितीय एवं सप्तम भव की कथा में ऐसे प्रेम-प्रसंगों का वर्णन<sup>१४</sup> है। पउमचरियं में मंदोदरी, कल्याणमाला एवं अंजना नामक कन्याओं के प्रेम-विवाह हुए थे, परन्तु प्रत्येक की परिस्थितियाँ भिन्न-भिन्न थीं।<sup>१५</sup> प्रेम-विवाह में चित्रदर्शन द्वारा आकर्षण की विशेष भूमिका होती थी। कुवल्यमाला में काम-गजेन्द्र और उज्जैन की राजकुमारी का विवाह चित्रदर्शन के आकर्षण से ही हुआ था। उज्जयिनी के राजा प्रजापाल ने अपनी गुणवती सुरसुन्दरी को पढ़ने के लिए एक द्विज के पास भेजा और इन्द्राणी को भी जीतने वाली दूसरी कन्या मदनसुन्दरी को भी इसी उद्देश्य से एक मुनि के पास ले जाने का आदेश दिया। सुरसुन्दरी ने इतना अध्ययन किया कि उसके सामने कोई विद्वान् ठहर नहीं पाता था। वह इतनी निष्णात हो गई जितना कोई दृढप्रतिज्ञ और अत्यन्त बुद्धिमान् व्यक्ति ही हो सकता है। उसने व्याकरण, छन्द और नाटक समझ लिए थे। निघण्टु, तर्कशास्त्र और लक्षण शास्त्र पढ़ लिए और अमरकोष तथा अलंकार शास्त्र भी। उसने आगम और ज्योतिष ग्रन्थ भी समझ लिये। मुख्य बहत्तर कलायें भी उसने जान लीं। उसी प्रकार चौरासी खण्ड-

विज्ञान भी। फिर उसने गाथा, दोहा, और छप्पय का स्वरूप जान लिया। उसने चौरासी बन्धों का स्वरूप जान लिया तथा राग और सत्तर स्वरों को भी। पाँच शब्दों और चौसठ कलाओं को भी जान लिया। फिर गीत, नृत्य और प्राकृत काव्य को भी जान लिया। उसने सब शास्त्र और पुराण जान लिये। अन्त में छह भाषायें एवं षड्दर्शन भी जान लिये। छियानवे सम्प्रदायों को भी उसने जान लिया। उसने सामुद्रिक शास्त्र के लक्षणों को भी शीघ्र समझ लिया। उसने चतुर्दश विद्याओं को पढ़ लिया। औषधियों और भावी घटनाओं के समूह का उसे ज्ञान हो गया। छियानवे व्याधियाँ वह उंगलियों पर गिना सकती थी। बहुत से देशों की मुख्य भाषाओं को भी उसने सीख लिया। उसने अठारह लिपियाँ भी जान लीं। नौ रसों और चार वर्गों को उसने जान लिया। जिनशासन के अनुसार चारित्र और निर्वेद विद्या को भी जान लिया। दुस्सह रति और कामार्थ में उसे कोई जीत नहीं सकता था? उसने क्षपणक मुनि के पास जीवों के अट्टानवे समासों का अध्ययन किया। समाधिगुप्त मुनि के पास उसने इन समस्त-शास्त्रों को अच्छी तरह जान लिया।

स्वेच्छा से पति-वरण की स्वतंत्रता के लिए स्वयंवरों का आयोजन इस युग में भी होता था जिसका वर्णन प्राकृत साहित्य में प्राप्त है। प्रायः उच्चवर्ग में ही स्वयंवर प्रचलित थे। तोसली देश में एक ऐसे विवाह स्थल का विवरण प्राप्त होता है जहाँ दास-दासियाँ एकत्र होकर आपस में एक दूसरे को पसंद कर अपना विवाह करते थीं।<sup>६६</sup> कभी-कभी उच्च घरानों की कन्यायें सामान्य व्यक्ति अथवा घर के सेवकों से परस्पर आकर्षण के कारण विवाह कर लेती थीं। एक राजकुमारी ने इन्द्रदत्त से विवाह कर मृत्युदण्ड से उसकी रक्षा की थी।<sup>६७</sup> अश्वों के स्वामी एक धनिक कन्या ने अपने नौकर से विवाह कर उसे अपना घरजमाई बना लिया था।<sup>६८</sup>

प्राकृत साहित्य में कन्याओं के जीवन के सम्बन्ध में कुछ ऐसे प्रसंग प्राप्त होते हैं जो उनकी स्वतन्त्रता और कर्तव्यपरायणता के द्योतक हैं। कुवलयमाला में चंडसोम की कथा का उल्लेख है कि चंडसोम की बहन श्री सोमा अपनी भाभी के रोकने पर भी गाँव में हो रहे नाटक को देखने चली जाती है।<sup>६९</sup> उसका बड़ा भाई चंड अत्यंत क्रोधी था फिर भी अपने प्राणों का भय न करके रात में गाँव में अकेले नाटक देखने जाना कन्या के स्वतंत्रतापूर्ण जीवन का परिचायक है। महाकवि विमलसूरि ने दो ऐसी कन्याओं का वर्णन किया है जो अपने पिता के शत्रु से बदला लेने के लिए युद्ध भूमि में जा पहुँचती हैं। वीर राक्षस बज्रमुख की कन्या लंका सुंदरी अपने पिता के बंधक हनुमान से लड़ने के लिए युद्धभूमि

में उनका सामना करती है।<sup>२०</sup> इसी प्रकार कल्याणमाला के पिता को कोई म्लेच्छ बंदी बनाकर ले गया तब शोक मनाने के स्थान पर कल्याणमाला स्वयं नलकुंवर के पुरुष वेष में राजा बन गई। उसने पुरुष वेष तब तक नहीं त्यागा जब तक उसे पिता की मुक्ति का आश्वासन नहीं मिल गया।<sup>२१</sup> इससे यह भी ध्वनित होता है कि पुत्र ही नहीं अपितु पुत्रियाँ भी पिता के प्रति पुत्रवत् ही अपने कर्तव्यों का पालन करती थीं।

### भार्या

सुशिक्षित संस्कारयुक्त एवं साहसी कन्यायें जब मनपसन्द वर के साथ विवाह-सम्बन्ध में बंधती हैं तो वे भार्या, गृह-लक्ष्मी आदि पदों को धारण करती हैं। प्राकृत साहित्य में पत्नी की भूमिका गृहस्थ जीवन में सहचरी के रूप में रही है। वह अपने पति की मित्र, सलाहकार एवं संरक्षिका के रूप में प्रतिष्ठित थी। प्राचीन साहित्य में पत्नियों के आदर्श रूपों की प्रमुखता है, किन्तु अघम भार्याओं के विवरण भी कम नहीं हैं। अतः यह साहित्य तत्कालीन समाज में नारी के यथार्थ रूप को प्रस्तुत करने में संकोच नहीं करता। इन ग्रन्थों में वर्णित गृहिणी के रूप केवल पौराणिक या काल्पनिक ही नहीं हैं अपितु उनका जन-जीवन से सीधा सम्बन्ध है। पतियों के साथ मन-वचन-काय से रहना सभी नारियों का कर्तव्य था। उद्योतनसूरि ने कुवलयमाला में पति से प्रेम करने वाली पत्नियों के कई सुन्दर दृष्टान्त प्रस्तुत किये हैं।

आदिपुराण से ज्ञात होता है कि इस युग में विवाहित नारी का महत्त्व क्रमशः बढ़ रहा था। वह घूमने-फिरने एवं धार्मिक उत्सवों में आने-जाने के लिए स्वतन्त्र थी। गुणवती भार्या को पाकर पति अपने को कृतार्थ मानते थे। पत्नी से पति की शोभा होती थी।<sup>२२</sup> अतः पत्नियों का अपमान करना शिष्ट व्यक्तियों के लिये अपराध जैसा था। सदगुणी एवं बुद्धिमती नारी पुरुष पर अधिकार जमाने में, उसे अपने वश में करने में सफल रही है। हरिभद्रसूरि के धूर्ताख्यान नामक ग्रन्थ में खण्डपाना नाम की नारी पाँच सौ पुरुषों पर विजय प्राप्त करती है, उन्हें वाद-विवाद में हराती है तथा अन्त में उन्हें भोजन कराकर तृप्त करती है। यह भी नारी की विजय का घोषणापत्र है आठवीं शताब्दी का। कवि ने इस आख्यान के द्वारा नारी के स्वतन्त्र व्यक्तित्व के विकसित होने की सूचना दी है।<sup>२३</sup>

स्त्रियाँ पति के प्रत्येक कार्य में सहयोग किया करती थीं। विमलसूरि रचित पउमचरियं में कैकेयी को प्रत्युत्पन्नमति, कला-सम्पन्न, दूरदर्शी महिला के रूप में दर्शाया गया है। सहृदया, कला-मर्मज्ञा कैकेयी युद्धकला में निपुण थी। रथ-

कला में भी निष्णात थी। कितनी शूरता और वीरता उनमें रही होगी कहा नहीं जा सकता। प्राचीन काल के युद्ध आमने-सामने लड़े जाते थे। ऐसे रणस्थल पर रथ-चक्र की कीली निकल जाने पर अपनी अंगुली रथचक्र में डालकर चलाये रखना, अपूर्व साहस की अपेक्षा रखता है।<sup>२५</sup> वह आधुनिक प्रगतिशील महिला थी, समय से आगे चलने वाली। आचार्य विमलसूरि ने रावण की पट्टरानी की भी भव्यता सिद्ध करने की पूर्ण चेष्टा की है। स्वतः उसके अनेक विशेषण दिए हैं, तथा पात्रों से भी उसकी प्रशंसा कराई है और उसके कार्यों से भी उसे उदार एवं उदात्त महिला सिद्ध करने की सफल चेष्टा की है। वह वनितोत्तमा है। सरस्वती की प्रतिमूर्ति जैसी लगती है और उसको प्राप्त कर रावण को लगता है मानो उसने समस्त भुवनाश्रित श्री ही पा ली है।<sup>२६</sup> वह पति की हितैषिणी है और शान्त मस्तिष्क की विचारवती स्त्री है। चन्द्रनखा के खरदूषण द्वारा हरण कर लिए जाने पर रावण खड्ग लेकर लड़ने जाना चाहता है<sup>२७</sup> किन्तु मन्दोदरी उसे समझाती है—

“हे नाथ! कन्या निश्चित ही पराया धन होती है, उसे पिता का घर त्यागना ही होता है। खरदूषण जो आपकी बहन को ले गया है वह योग्य है, पारंगत है। यदि वह युद्ध में मारा गया तो अपहरण के दोष से दूषित कन्या का दूसरा कोई वरण नहीं करेगा अतः उसे विधवा ही रहना पड़ेगा”। आज के भौतिकवादी और विवाह संस्था के प्रति आदर न रखने वाली उन्मुक्त आचरण के पथ पर बढ़ने वाली कन्याओं और माताओं के लिए मन्दोदरी के वचन प्रेरक हैं। अपने उन्मुक्त आचरण से आज नारी क्रूरताओं और अमानवीयता की शिकार बन रही हैं। अपनी पतन को अलविदा कहने का जौहर दिखाने का तथा चरित्र अपने अंदर स्वयं नारी को उत्पन्न करना होगा।

रावण की प्रकृति में जहाँ उत्तेजना थी वहीं मन्दोदरी की प्रकृति शांत थी, वह अपनी दूरदर्शिता एवं विवेकशीलता से समय-समय पर हितकारी उपदेश देती है। वह आत्मदीप्त दाह से रावण को धिक्कारती भी है— हे महाशय! अल्प सुखकर और बहुत दुःखदायी इन विषय सुखों का परित्याग करो और परनारी के संसर्ग को छोड़ दो। जब तुम्हें हजारों रानियों से तृप्ति नहीं हो सकी तो एक से कैसे होगी।<sup>२८</sup> पति को सुपथ पर लाना ही पत्नी का उद्देश्य है न कि उसके अनैतिक कार्यों में सहयोग देना। आचार्य हरिभद्रसूरि ने प्राचीन आगमों की प्रसिद्ध कथा ‘धन्य की चार पुत्रवधुयें’ प्रस्तुत की है। इसमें श्वसुर धन्य श्रेष्ठि द्वारा प्रदत्त कुल-परम्परा रूपी धान्य को अपने बुद्धि और श्रम से कई गुना कर देने वाली छोटी बहू घर की स्वामिनी बनती है। जबकि स्वाद में रुचि रखने वाली, संग्रह करने

वाली, बड़ों के निर्देश को व्यर्थ समझने वाली अन्य बहुयें घर के अन्य कामों में ही नियुक्त होती हैं। गुण और बुद्धि के साथ यहाँ श्रम से युक्त नारी की प्रतिष्ठा की गई है।<sup>२८</sup> दशवैकालिक हरिभद्रायवृत्ति में सुभद्रा की कथा शील के महत्त्व को प्रस्तुत करने वाली है।<sup>२९</sup> शीलवती नारियों की हर युग में प्रतिष्ठा रही है। समराइच्चकहा में ऐसी सच्चरित्रा पत्नियों को 'सुदाहारत तुल्या, विशुद्धशीला, धर्म-कल्पवृक्ष आदि सम्मान-सूचक विशेषण दिये गये हैं।<sup>३०</sup> उस समय की एक नारी पात्र कुसुमावती पतिव्रता और गृहसंचालिका पत्नी के रूप में उपस्थित हुई है। जब उसे यह आशंका होती है कि अपशकुन-दोहद से उत्पन्न उसका पुत्र कहीं अपने पिता के लिए दुःखदायी न हो तो कुसुमावती ऐसे पुत्र को त्याग देती है। क्योंकि उसे भरोसा था कि पति के मन पर तो वह ही अधिकार रखती है। उसने पति से वचन ले लिया था कि वह जो कुछ भी इस लोक में देखता, सुनता, अनुभव करता है वह सब कुछ आम्कर उसे बताना होगा।

हरिभद्रसूरि ने एक मनोरंजक कथा द्वारा यह संकेत किया है कि उस समय किस प्रकार नारी पुरुषों पर शासन चलाने को सोचने लगी थी। एक ब्राह्मिणी ने अपनी तीन कन्याओं को विवाह के समय यह शिक्षा दी कि यदि तुम अपने पतियों को अपने वश में रखना चाहती हो तो प्रथम मिलन में पाद-प्रहार से उसका स्वागत करना। बड़ी कन्या ने जब पाद-प्रहार किया तो उसका पति उसके पैर को सहलाते हुए बोला कि तुम्हें चोट तो नहीं लगी? यह सुनकर माँ ने बेटी को कहा तेरा पति जीवन भर तेरा गुलाम बनके रहेगा। मैंझली कन्या के पति ने लात खाकर उसे तुरंत भला बुरा कहा किंतु फिर शांत हो गया, तब माँ ने बेटी से कहा— तुम कभी-कभी रूठती रहना तो आराम से रहोगी।<sup>३१</sup> छोटी कन्या ने जब पाद-प्रहार का साहस दिखाया तो उसके पति ने उसे खूब पीटा और उसकी माँ को भी अपशब्द कहे। पता चलने पर माँ ने बेटी को अकेले में समझाया कि—पुत्री तुम्हें सबसे श्रेष्ठ पति मिला है, तुम इसकी आज्ञा में रहोगी तो सुखी रहोगी। आठवीं शताब्दी में प्राकृत कथा साहित्य में नारियों की स्वच्छंदता के कई उदाहरण प्राप्त होते हैं परन्तु ऐसी चरित्र वाली कर्तव्यहीन नारियाँ समाज में सम्मान की पात्र नहीं थीं। उद्योतनसूरि द्वारा मोहदत्त की कथा में स्पष्ट किया गया है कि अनैतिक संबंध का पता चलते ही परिवार और समाज के व्यक्ति दोषी को सजा दिलाने के लिए सक्रिय हो जाते थे। सुवर्णा नामक वणिक पुत्री परित्यक्ता के रूप में अपने माँ-बाप के यहाँ रहती थी। किन्तु राजकुमार तोसल के साथ उसका अनैतिक संबंध हो जाने पर उसे घर छोड़ना पड़ा, और राजकुमार के लिए मृत्युदंड की व्यवस्था की गई।<sup>३२</sup>

इसी तरह महाकवि हाल की 'गाहासतसई' नामक ग्रंथ में भार्या के सम्बन्ध में कहा गया है कि पत्नी अपने पति, देवर के मन को अशुद्ध जानकर भी सारे दिन घर की दीवार पर राम का अनुगमन करते हुए लक्ष्मण का चरित्र अंकित करती रही ताकि परिवार में विघटन की स्थिति न उत्पन्न हो, भाई-भाई में परस्पर संघर्ष टल जाये। इस प्रकार वह विपरीत परिस्थिति को अपने ढंग से अनुकूल करना चाहती है, यह एक भार्या की संस्कारशीलता है।<sup>३२</sup>

### माता

शीलवती एवं कर्तव्यपरायणा गृहिणी सन्तान को प्राप्त करते ही माता के प्रतिष्ठित पद को सुशोभित करती थी। माता की प्रतिष्ठा और महत्त्व हर युग में रहा है, क्योंकि माता गृहस्थ जीवन की धुरी है। उसके द्वारा दिए गये संस्कार व्यक्ति को महापुरुषों की कोटि में बिठा देते हैं। महाकवि हरिभद्रसूरि के व्यक्तित्व के निर्माण में उनकी धर्ममाता याकिनी महत्तरा की महत्त्वपूर्ण भूमिका मानी जाती है। पुत्र श्रद्धा से माता की वन्दना करते थे तथा अवसर आने पर माता की खुशी के लिए अपने भाग का राज्य छोड़कर मुनि बन जाते थे।

प्राकृत साहित्य के पउमचरियं में सीता ने गर्भवती होते हुए भी भ्रूणहत्या की कल्पना भी नहीं की तथा प्रतिकूल परिस्थितियों में रहते हुए न सिर्फ युगल पुत्रों को जन्म दिया अपितु संतानों को उचित संस्कार देकर उन्हें कुल में सम्मिलित कर उनका उत्तराधिकार दिलाकर ही अपनी माँ होने का गौरव हासिल किया। इसी कारण सीता नारी वर्ग की समस्त निर्बलता को नष्ट करने वाली एक दायित्व-बोध वाली माता है। उसमें साहसिक निर्णय-क्षमता भी है। जड़ता को विच्छिन्न कर जब नारी आन्तरिक चेतना को जगा कर अपना कर्तव्य पथ निर्धारित कर लेती है तो वह अजेय हो जाती है। पउमचरियं में नारी चेतना को अलंकृत करने वाली महत्त्वपूर्ण चरित्र सती अंजना का भी है जिसने अपने को दुराचारिणी घोषित होने पर, श्वसुर-गृह तथा पितृ-गृह से निष्कासित होने पर भी सम्पूर्ण जगत् को वह पुत्ररत्न दिया जिसके द्वारा सदा-सदा के लिए इस संसार से राक्षसत्व मिटाकर 'रामत्व' की प्रतिष्ठापना हुई है।

राम ने रावण विजय के बाद जब अपनी माता के पुत्र-वियोग का दुःख सुना तो वे द्रवित हो उठे। उन्हें माता और जन्मभूमि स्वर्ग से भी प्रिय लगने लगी। ऐसी माताओं को देखकर ही कहा गया है कि माता का स्थान पिता से भी ऊँचा है क्योंकि माता प्रतिकूल परिस्थितियों में भी अपनी संतान की सेवा के लिए तत्पर रहती है। उद्योतन सूरि ने माता-पुत्र के स्नेह को अपने वर्णन

द्वारा साकार कर दिया है। कुवलयचन्द्र को जब मायावी अश्व उड़ाकर ले गया तो उसके वियोग में उसकी माँ प्रियंगु श्यामा पछाड़ खाकर गिर पड़ी। उसकी हालत पागलों जैसी हो गयी।<sup>३३</sup> माता का दुःख पुत्र को भी सहन नहीं होता। वह अपनी माता के अपमान के लिए बड़े से बड़े शत्रु से भिड़ने को तैयार हो जाता है चाहे वह उसका पिता ही क्यों न हो। राम द्वारा सीता के परित्याग को सीता तो यह कहकर सहन कर गई कि हे राम! आप एक वृक्ष से भी बौने हो गये। वृक्ष मरते दम तक अपने से लिपटी लता को नहीं त्यागते, जबकि आपने मुझे त्याग दिया। नर और नारी के स्वभाव में यही अंतर है।<sup>३४</sup> किन्तु सीता के पुत्र अपनी माता के पराभव को नहीं भूल सके।

प्राकृत जैन साहित्य में अंकित माता का इतना सम्मान होते हुए भी हरिभद्रसूरि ने समराइच्चकहा के दूसरे भव की कथा में जालिनी नामक माता को कुमाता के रूप में चित्रित किया है। वह अपने पुत्र को दुःख देने के नये-नये कुचक्र रचती रहती है। अन्ततः पुत्र शिखीकुमार<sup>३५</sup> को अपने हाथों से मार डालती है। सम्भवतः ऐसी कुमाता के प्रसंग उस समय अपवाद रहे हों अथवा पूर्वजन्मों के कर्मों के निदान के कारण माता को ऐसे दुष्कृत्य करने पड़े हों।

**धर्म-पालन और व्रताचरण में अग्रसर नारी**

नारियों को साधारणतः धर्मभीरु, व्रत-उपवास में तत्पर, देव-देवियों और साधु-साध्वियों आदि की आराधना में अग्रसर दिखाया गया है। नारियों की यह प्रवृत्ति कुछ प्रकृति और कुछ परिस्थितियों के कारण अपेक्षाकृत अधिक ही रही है। इसका चित्रण भी समस्त भारतीय साहित्य में समान रूप से हुआ है। अपभ्रंश के साहित्यकारों ने भी इसके अनेक उदाहरण संजोये हैं। नारियों ने एक ओर तो क्रमशः अभ्यास करते हुए यथाविधि जिनदीक्षा ग्रहण की और दूसरी ओर समय-समय पर पर्वाराधन, तपश्चरण, साधु-भक्ति, देवाराधन, रात्रि-भोजन त्याग आदि में भी एकांकी या सामूहिक रूप से भाग लिया।

नारी-जीवन और उसके गौरव तथा अपमान से जुड़े हुए कुछ प्रासंगिक चित्र अन्य प्राकृत साहित्य में भी मिलते हैं। कन्या के विवाह के समय या उसके विदाई में पिता अपनी शक्ति भर धन-धान्य देता था। पिता द्वारा दक्षिणा स्वरूप विभिन्न वस्तुओं को भेंट स्वरूप देने का उल्लेख समराइच्चकहा में है।<sup>३६</sup> कुवलयमाला के पिता ने भी बेटी के विदाई के समय धन-धान्य आदि दिया था। किन्तु इसे आज की दहेज-प्रथा से नहीं जोड़ा जा सकता। इसी प्रकार विधवा-जीवन के भी दो-तीन प्रसंग यहाँ उपलब्ध हैं।<sup>३७</sup> किन्तु वे उतने कष्टदायक नहीं

कि चर्चा के विषय बनें। पति के प्रेम में आसक्त कोई पत्नी अग्रि-प्रवेश की अथवा आत्मदाह की प्रतिज्ञा भी करती दिखाई देती है।<sup>१८</sup> किन्तु वह धार्मिक विश्वास के लिये या किसी डर से किया गया सतीमरण नहीं है। निर्धनता के कारण या कर्ज चुकाने के लिए स्त्रियाँ नौकरी आदि भी करती थीं। उन्हें दासी, धाई, आदि नामों से जाना जाता था। इस विवेच्य युग में प्राकृत साहित्य में नारी के प्रायः उन सभी रूपों का विवरण प्राप्त है, जिनसे उसकी प्रतिष्ठा और महत्त्व का ज्ञान होता है।

प्राकृत साहित्य में नारी पात्रों के चरित्र का रेखांकन सुख एवं दुःख दोनों में प्रेरणा देता है। इनके माध्यम से हम एक पूरी सांस्कृतिक-ऐतिहासिक विरासत से जुड़ते हैं जो तमाम विषमताओं में सुख एवं शान्ति को नष्ट होने से बचा लेती है। इन नारियों के जीवन चरित्र में हमें आज भी नारियों से जुड़े समस्त प्रश्नों के उत्तर और सामाजिक विसंगतियों का सर्वसम्मत प्रतिकार दृष्टिगोचर होता है। जिस पल भी जीवन निरर्थक लगे, समस्याओं का जाल जकड़ने लगे अथवा जीवन में कोई राह दृष्टिगत न हो तो सत्यनिष्ठता, एकाग्रता, पवित्रता से इन सात्त्विक नारियों का स्मरण अप्रत्याशित रूप से उर्जास्वित कर देगा। आज की प्रत्येक नारी के अन्तर में इनका निवास है, आवश्यकता है इनके गुणों को समाहित कर विकसित करने की।

### सन्दर्भ-सूची

१. पुतकुमार पुण्णमंतो अहयं जस्स तुमं पुत्तो, कुवलयमाला, १६२.१०
२. ततो तीए पुत्त धम्माओ वि अहियं कयाइ वद्धावणयाइं। कुव० १६२.११
३. समराइच्चकहा, भव-५, पृ. ३५
४. समराइच्चकहा, भव, ८, पृ. ७४४
५. वही, भव-८ पृ.
६. वही, भव-२ पृ. ८७-८८
७. सव्व कलागम-कुसलो जिणवयणसणिच्छओ महाबुद्धी-कुवलयमाला, १२३.२६
८. इमिणाप ओगेण अक्खर-लिवीओ गाहिआ। कुवलयमाला, २७-१-१८
९. समराइच्चकहा, भव-९, पृ. ९२२
१०. जैन, जगदीशचन्द्र, प्राकृत जैन कथा साहित्य, पृ. ६०
११. पउमचरिउ
१२. कण्ण दाणु कर्हंतणउ जइ, पउम., ६३/९
१३. कुल सील-कित्ति-परिव्वज्जियाहं, पउम, ८२/२/४

४४ : श्रमण, वर्ष ६१, अंक २ / अप्रैल-जून-१०

१४. यादव, झिनकू, समराइच्चकहा- एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ. १२२
१५. शर्मा, योगेन्द्र नाथ, स्वयंभू और तुलसी के नारी पात्र, मेरठ, १९७९, २ पृ. ६२
१६. बृहत्कल्पभाष्य, २ गाथा, ३४४६
१७. आचारांगचूर्णि, ५ पृ. १८६
१८. बृहत्कल्पभाष्य ३, गाथा ३९५९
१९. कुवलयमाला: एक अनुशीलन १०, पृ. ४६१
२०. वही १०, पृ. ४६१
२१. पठमचरियं, संधि ४८/१०/१
२२. वही, संधि, २६/१९/९
२३. उपाध्ये ए. एन., घूर्ताख्यान, बम्बई, भूमिका
२४. पठमचरिउं, संधि, २४/२३/३१
२५. पठमचरिउं, संधि ९
२६. पठमचरिउं, संधि ९-१०
२७. पठमचरियं, संधि, ९.१०-१५
२८. उपदेशपद, गाथा ११७२.१७९
२९. दशवैकालिक, गाथा ७३ पृ. ९२
३०. जैन, जगदीशचंद्र १००० कहानियाँ, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली
३१. कुवलयमाला, अनुच्छेद ४५, पृ. ७५
३२. गाथासप्तशती, पार्श्वनाथ शोधपीठ, वाराणसी, १९९५, १.३५
३३. मुच्छा मोहिय जाया तुज्ज मउत्तीति आसासित्झंती।  
ता पुत्त! तुरयं या जणणी पेच्छासि जियंती। १५७.८
३४. णर-णारिहीं एवउत्तु अन्तरू भरणे विवाल्लि ण भेल्लइ तखरू। पठम., ८
३५. शास्त्री, नेमिचन्द्र, हरिभद्र के प्राकृत कथा-साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन, वैशाली, १८६५ पृ. २४२ आदि।
३६. यादव झिनकू, समराइच्चकहा- एक सांस्कृतिक अध्ययन, भारतीय प्रकाशन, वाराणसी, १९७७, पृ. ११२ आदि।
३७. जैन, जगदीशचन्द्र, जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, वाराणसी १९६५, पृ. १५८
३८. समराइच्चकहा, भव, ७ पृष्ठ ६६४

\*

## जैन धर्म में शांति की अवधारणा

प्रो. सागरमल जैन  
अनु. डॉ. राजेन्द्र कुमार जैन

[विद्वान् लेखक के अंग्रेजी आलेख का यह अनुवाद लेखक की अन्तर्वेदना को प्रकट करता है। आज जो जीवन में अशांति का कारण है वह है तनाव, अनन्त इच्छाओं का मकड़जाल (राग-द्वेष भाव) इत्यादि। वस्तुतः दुःख या तनाव शारीरिक या भौतिक कम हैं और मानसिक अधिक हैं। अतः? यदि मन की चञ्चलता, तृष्णा, लोभ, आसक्ति, ममत्व आदि वृत्तियों को संयमित कर लिया जाता है, तो परम शांति सुलभ है, अन्यथा असंभव है। अहिंसा, अपरिग्रह, वीतरागता, सहिष्णुता, अनेकान्त दृष्टि इन सभी शब्दों का लक्ष्य एक ही है 'शान्ति' या परम शान्ति'। ]

**शान्तिपूर्ण जीवन और सामाजिक-वातावरण : युगीन-आवश्यकता**

वर्तमान समय विज्ञान और तकनीकी का युग है। वैज्ञानिक-ज्ञान के क्षेत्र में प्रगति के परिणामस्वरूप हमारे धार्मिक-अंधविश्वासों और मिथ्या-धारणाओं का अन्त हुआ है। दुर्भाग्यवश इस प्रगति के कारण हमारे पारस्परिक-विश्वास, नैतिक और आध्यात्मिक-मूल्यों में उत्तरोत्तर गिरावट भी आई है। वैज्ञानिक-ज्ञान और तकनीकी-सोच के विकसित होने से एक ओर तो मानवता के सूत्र में जोड़ने वाली कड़ी के रूप में काम करने वाले, धार्मिक-आस्थाओं पर आधारित परम्परागत सामाजिक और आध्यात्मिक-जीवनमूल्य अप्रासंगिक हो गए हैं तथा दूसरी ओर शांतिपूर्ण और सार्थक-जीवन जीने के लिए नवीन-मूल्यों पर आधारित सामाजिक-व्यवस्था हम आज तक विकसित नहीं कर पाए हैं। हम पूर्णतया अस्त-व्यस्त या अराजक-स्थिति में जीवन जी रहे हैं। वस्तुतः, वर्तमान समय परिवर्तनों का युग या संक्रमण काल या सन्धि-युग है, क्योंकि पुराने मूल्य अप्रासंगिक हो गए हैं और नवीन मूल्य स्थापित नहीं हुए हैं। परमाणु शक्ति और व्यवस्था के संबंध में भी हमारा ज्ञान उत्तरोत्तर विकसित हुआ है, फलस्वरूप मानव-समाज में शांतिमय वातावरण को स्थापित करने के लिए और साथ ही एक सच्चे रक्षक के रूप में भी आज हम उसी पर पक्का भरोसा करते हैं तथा इस सन्दर्भ में धार्मिक-आध्यात्मिक मूल्यों को अंधविश्वास कहकर खारिज कर देते हैं। श्री डी.आर. मेहता ने सही कहा है- 'वर्तमान समय में विश्व-समुदाय अपने दैनिक-

जीवन में धर्म से विमुख होता जा रहा है, व्यावसायिक या उद्योगजा हिंसा का विस्तार बृहत् रूप ले चुका है तथा प्राणीजगत् (मनुष्य हो या पशु या जीवन के अन्य रूप) के प्रति मानवीय-संवेदना आनुपातिक रूप से कम हुई है।<sup>११</sup> आज, मनुष्य हमारे लिए या तो एक जटिल मशीन के समान है या कम से कम एक विकसित पशु, जो यंत्रवत् तर्कों से सम्पन्न और नैसर्गिक-प्रेरणाओं से संचालित है। इस प्रकार मानव-समाज में जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पूर्णतया भौतिकवादी और स्वार्थी-दृष्टिकोण विकसित हो चुका है। यद्यपि वैज्ञानिक-प्रगति हुई है, परन्तु हमारे पाशविक-वृत्तियों और स्वार्थी-स्वभाव का किंचित् भी परिष्कार नहीं हुआ है। हमारे अन्दर पाशविक-वृत्तियां अधिक प्रबल हैं, जो हमारे व्यक्तिगत और सामाजिक-जीवन को संचालित कर रही हैं। परिणामस्वरूप, हमारा जीवन-व्यग्रताओं, उत्तेजनाओं, मनोविकारों और मानसिक-तनावों से व्याप्त है। जो राष्ट्र आर्थिक-दृष्टि से जितना अधिक समृद्धशाली है, वहाँ मानव-समाज में इन दुष्ट-प्रवृत्तियों की जड़ें उतनी ही अधिक गहरी हैं। तनाव को इस युग का एकमात्र विशिष्ट लक्षण निरूपित किया जा सकता है। आजकल, व्यक्ति विशेष ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण मानवजाति तनाव में ही जी रही है।

यद्यपि, दिखावे के लिए या ऊपरी तौर पर तो हम शांतिपूर्ण तौर-तरीकों और अहिंसामय आचरण की वकालत करते हैं; परन्तु हृदय से तो हम भी जंगल-कानून, अर्थात् 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' के सिद्धान्त में ही दृढ़ विश्वास रखते हैं। वस्तुतः, हम केवल अपनी पाशविक-वृत्तियों की सन्तुष्टि के लिए ही जी रहे हैं, फिर चाहे हम उच्च सामाजिक और आध्यात्मिक मूल्यों की बातें क्यूं न करें। जीवन का यह दोहरापन या कथनी-करनी में अन्तर ही एकमात्र कारक है, जो हमारे व्यक्तिगत जीवन और सामाजिक-वातावरण में अशान्ति फैलाता है। एक बार जब हम उच्चस्तरीय जीवन-मूल्यों को प्रभावहीन होता देखते हैं, या हमारे विश्वास को चोट पहुँचती है, तो हम प्रत्येक व्यक्ति, समुदाय और राष्ट्र को शंका भरी दृष्टि से देखने लगते हैं, निश्चित तौर पर यह विशुद्ध मानसिकता का प्रतीक है।

भौतिकवादी और यंत्रवत् दृष्टिकोण के कारण हमारी विश्वास-भावना का आधार कमजोर हुआ है। जब पारस्परिक-विश्वास, सहयोग और सह-अस्तित्व के उच्चस्तरीय जीवन-मूल्यों के प्रति विश्वास टूटता है, तो संदेह का जन्म होता है। संदेह, भय का कारण है। भय, हिंसा को स्थान देता है। हिंसा, प्रतिहिंसा के लिए प्रेरित करती है। वस्तुतः, हिंसा हमारे भौतिकवादी-दृष्टिकोण और शंकालु-स्वभाव की परिणति है। वर्तमान समय में मानवजाति अपनी जो सबसे बहुमूल्य

वस्तु खो चुकी है, वह मानसिक-शांति के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकती है।

विज्ञान और तकनीकी विकास ने हमें जीवन की सुख-सुविधा के सभी साधन प्रदान किए हैं। फलस्वरूप, पृथ्वी पर जीवन आज जितना विलासी और सुखद हो गया है, उतना पहले कभी नहीं था। फिर भी, मनुष्य की भौतिकवादी और स्वार्थी-सोच तथा शंकालू-स्वभाव के कारण कोई भी प्रसन्न और सुखी नहीं है। हम हर समय तनाव में रहते हैं, यहाँ तक की हम गहरी नींद से भी वंचित हो गए हैं। जो लोग भौतिक रूप से अधिक समृद्धशाली हैं तथा जिनके पास जीवन की सभी सुख-सुविधाएँ हैं, वे अधिक तनावग्रस्त हैं। समृद्धशाली राष्ट्रों के चिकित्सा और मनोवैज्ञानिक प्रतिवेदनों से इस तथ्य की पुष्टि होती है। घनाढ्य-वर्ग में मादक-पदार्थों और नशीली-दवाइयों के सेवन की बढ़ती हुई प्रवृत्ति से भी यह बात प्रमाणित होती है। सच तो यह है कि मानसिक-शान्ति की कीमत पर हमने भौतिक-विकास के पायदानों को तय किया है। इतना ही नहीं, हम अपनी नैसर्गिक-जीवनशैली से भी वंचित हो गए हैं। श्री एस. बोथरा कहते हैं— “दुर्भाग्य से यह हुआ है कि महत्त्वाकांक्षा और सफलता के उन्माद में हम नैसर्गिक-अनुशासन को भूल चुके हैं, जो हमें पशुजगत् से वंशानुगत हस्तांतरित हुआ है।”<sup>२</sup> तकनीकी और वैज्ञानिक-ज्ञान के क्षेत्र में उत्तरोत्तर प्रगति के साथ ही हमने न केवल सामाजिक और धार्मिक नियंत्रक-तत्त्वों, अपितु नैसर्गिक - नियंत्रक-तत्त्वों को भी स्वीकार करना छोड़ दिया है। आज स्थिति यह है कि हमारी जीवनरूपी गाड़ी को गति देने के लिए एक्सीलरेटर तो है, परन्तु उसे नियंत्रित करने के लिए उसमें ब्रेक नहीं है। हमारी इच्छाओं की कोई सीमा नहीं है। ये सदैव अपूर्ण ही रहती हैं, जिससे मनुष्य निराशाग्रस्त होकर उदासीन हो जाता है। ये निराशाएँ और उदासीनताएँ हमारे तनाव का कारण हैं। वर्तमान समय में यातायात के सर्व-सुलभ साधन उपलब्ध होने से भिन्न-भिन्न राष्ट्रों, संस्कृतियों और धर्मों के लोगों से सम्पर्क करने में भौतिक-दूरी अब बाधा नहीं रही है और इस दृष्टि से हमारा विश्व सिमट रहा है, परन्तु दुर्भाग्य से भौतिकवादी और स्वार्थपूर्ण दृष्टिकोण के फलस्वरूप हमारे दिलों की दूरियाँ दिन-ब-दिन बढ़ती जा रही हैं। हम आपस में पारस्परिक-प्रेम, सहयोग और विश्वास विकसित करने के बजाय आपसी घृणा और शत्रुता को ही बढ़ावा दे रहे हैं। रवीन्द्रनाथ टैगोर ने सही कहा था— “मनुष्य के लिए एक-दूसरे के निकट आकर भी मानवीय दायित्वों (मानवीय गुणों) की उपेक्षा करना निश्चित ही मानवजाति की आत्महत्या की ही प्रक्रिया होगी।”<sup>३</sup>

## जैनधर्म में शान्ति की अवधारणा

‘शान्ति’ शब्द के विविध अर्थ हैं। यह भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से भिन्न-भिन्न रूप में परिभाषित किया जा सकता है। आभ्यन्तरिक रूप में शान्ति शब्द का अर्थ मून की शान्त-अवस्था से है, जिसमें आत्मा अपने स्वभाव में स्थित हो जाती है, बाह्य वातावरण से अप्रभावित रहती है। ‘शान्ति’ शब्द का एक अर्थ आत्मा का विकारों-विक्षेपों तथा इच्छाओं-आकांक्षाओं से रहित हो जाना है। आचारांगसूत्र में दृढ़तापूर्वक कहा गया है—‘आत्मशान्ति का इच्छुक मुमुक्षु इच्छारहित होता है।’<sup>४</sup> शान्ति, अर्थात् सभी प्रकार की इच्छाओं का अवसान हो जाना। सूत्रकृतांग इसे निर्वाण के समतुल्य मानता है, अर्थात् यह सभी प्रकार की इच्छाओं से मुक्त अवस्था है। अन्य शब्दों में, यह आत्मसन्तोष या विशुद्ध द्रष्टाभाव की अवस्था है। आचारांगसूत्र में निश्चयात्मकतापूर्वक कहा गया है—“जो आत्मशान्ति के प्रति सजग है, वह मनोविकारों की गिरफ्त से बहुत दूर है।”<sup>५</sup>

शान्ति को परिभाषित करते हुए संत थॉमस एक्विनस भी यही कहते हैं—“शान्ति शब्द में दो बातें अन्तर्निहित हैं : प्रथम-आत्मा बाहरी निमित्तों से प्रभावित नहीं होना चाहिए और द्वितीय-हमारी इच्छाएँ उसमें, अर्थात् आत्मा में शान्त हो जानी चाहिए।”<sup>६</sup> शान्ति शब्द के इस अर्थ की नकारात्मक और सकारात्मक-दृष्टिकोण से भी विवेचना की जा सकती है। नकारात्मक-रूप में यह आत्मा की समस्त प्रकार की इच्छाओं और आवेगों की समाप्ति या राग और द्वेष के मार्ग से मुक्ति की अवस्था है। सकारात्मक-रूप में यह परमानन्द या आत्मसन्तोष की स्थिति है, परन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि आत्मशान्ति के ये सकारात्मक और नकारात्मक पहलू एक-दूसरे पर अन्योन्याश्रित हैं। आत्मशान्ति केवल निरपेक्ष भाव नहीं है, अपितु यह ऐसा कुछ है, जो पूर्ण और प्रत्यक्ष है। यह हमारी अनन्त-आत्मा का प्रतिनिधित्व करता है।

अब हम बाह्यशान्ति की ओर रुख करते हैं। यदि आभ्यन्तरिक-शान्ति, आत्म-शान्ति है, तो बाह्यशान्ति, सामाजिक-शान्ति है। हम इसे पर्यावरणीय या वातावरणीय-शान्ति के रूप में भी परिभाषित कर सकते हैं। जैनधर्म में प्राकृत शब्द ‘संति’ संस्कृत के ‘शान्ति’ शब्द के समान ही है, जिसका आशय भी क्षमाशीलता है। सूत्रकृतांग में दस सदगुणों में क्षमाशीलता सर्वप्रथम गुण है, जो सामाजिक-शान्ति के लिए मूलभूत है। यह विभिन्न व्यक्तियों, व्यक्ति और समाज, विभिन्न सामाजिक-समुदायों और राष्ट्रों के बीच युद्ध, शत्रुता आदि की समाप्ति की स्थिति

है। इस बाह्य-शान्ति या सामाजिक-शान्ति को भी नकारात्मक और सकारात्मक दोनों रूप में परिभाषित किया जा सकता है। नकारात्मक रूप में यह युद्ध और शत्रुता की समाप्ति की स्थिति है। यह विभिन्न व्यक्तियों, सामाजिक-समुदायों और राष्ट्रों के पारस्परिक-सहिष्णुतापूर्वक रहने की स्थिति है। यह पारस्परिक सहयोग और सहअस्तित्व की स्थिति है, परन्तु हमें इस तथ्य के प्रति भी सजग होना चाहिए कि वास्तविक बाह्य-शान्ति अयुद्ध की स्थिति के अतिरिक्त कुछ और भी है। यह सजीव शान्ति है। यह पारस्परिक-संदेह और भय से मुक्ति की स्थिति है। जब तक एक-दूसरे के प्रति संदेह और आशंकाएं विद्यमान हैं, वास्तविक युद्ध की अनुपस्थिति के बावजूद यह शान्ति की स्थिति नहीं है, क्योंकि जहाँ भय है, वहाँ युद्ध की संभावना बनी रहती है। आधुनिक-विश्व में इसे शीत-युद्ध के रूप में जाना जाता है। युद्ध, युद्ध है; फिर चाहे वह वास्तविक हो या शीत, वह सामाजिक-शान्ति को प्रभावित करता है। वास्तविक सामाजिक-शान्ति तभी संभव है, जब हमारे मन, भय और आशंकाओं से मुक्त हों और प्रत्येक व्यक्ति न केवल 'जीओ और जीने दो' के सिद्धान्त में, अपितु 'दूसरों के लिए जीना' की उक्ति को जीवन का आदर्श या ध्येय-वाक्य मानने में विश्वास करता हो।

जैन-दार्शनिक आचार्य उमास्वाति के अनुसार 'प्राणीजगत् स्वभावतः एक-दूसरे के लिए बना हुआ है।' (परस्परोपग्रहो जीवानाम्) यदि हमारा मन भय और आशंकाओं से ग्रसित है तथा हम अपनी पाशविक-वृत्तियों पर नियंत्रण नहीं करते हैं और पारस्परिक-सहयोग एवं सहअस्तित्व के जीवन मूल्यों में दृढ़ विश्वास नहीं करते हैं, तो इस धरा पर, वास्तविक रूप में सामाजिक-शान्ति स्थापित होना सम्भव नहीं है।

वास्तविक रूप में, शान्ति केवल तभी प्रकट होती है, जब प्राणी जगत् के प्रति हमारा हृदय सार्वभौमिक प्रेम से परिपूर्ण होता है। यह राग-भाव से कुछ हटकर स्थिति है। जैनाचार्यों के अनुसार राग सदैव द्वेष से जुड़ा है, परन्तु सार्वभौमिक-प्रेम 'सभी प्राणियों की समानता की अवधारणा' और 'प्राणीजगत् स्वभावतः एक-दूसरे के लिए बने हैं' के सिद्धान्त पर आधारित है। हमें इस तथ्य के प्रति भी सजग होना चाहिए कि सामाजिक-शान्ति व्यक्तियों की मानसिक-शान्ति पर आधारित है, क्योंकि हमारा आचरण, हमारी इच्छाओं तथा जीवन के प्रति हमारे नजरिए की ही अभिव्यक्ति है। इस प्रकार शान्ति के विविध पहलू पृथक्-पृथक् न होकर पारस्परिक-रूप में एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। सामाजिक-शान्ति या बाह्य-शान्ति तभी प्रभावित होती है, जब व्यक्ति की मानसिक-शान्ति

प्रभावित होती है। दोनों एक-दूसरे की सहगामी हैं। मेरे विनम्र विचार में, युद्ध और शत्रुता रुग्ण मानसिकता की अभिव्यक्तियाँ और निष्पत्तियाँ हैं। यह व्यक्ति और समाज का आक्रामक और स्वार्थपूर्ण दृष्टिकोण ही है, जो विभिन्न व्यक्तियों, व्यक्ति और समाज, विभिन्न सामाजिक-समुदायों और राष्ट्रों के आपस में आमने-सामने हो जाने की स्थिति को जन्म देता है। सभी प्रकार के युद्ध और शत्रुता, जिनसे हमारा वातावरण अशांत हो जाता है, के मूल में असंतोष की भावना तथा सत्ता, सम्पत्ति और संग्रह के प्रति हमारी अपरिमित इच्छा ही है। इस प्रकार सामाजिक-अशान्ति, आपसी-टकराहट, युद्ध और शत्रुता हमारे मानसिक रूप से बीमार या तनावपूर्ण स्थिति में होने के लक्षण हैं।

वस्तुतः, सामाजिक-शान्ति, समाज में रहने वाले लोगों के मनोवैज्ञानिक या मानसिक-स्वभाव पर निर्भर करती है, परन्तु यह भी सच है कि सामाजिक-वातावरण और सामाजिक-प्रशिक्षण, जीवन के प्रति हमारे दृष्टिकोण और बाहरी-आचरण के प्रतिमान निर्धारित करते हैं। अहिंसक-समाज हिंसक-समाज से स्पष्टतया भिन्न होता है। एक ओर जहाँ सामाजिक-परिस्थितियाँ, सामाजिक-प्रतिमान और आदर्श व्यक्ति के मानसिक-स्वभाव और बाहरी आचरण पर प्रभाव डालते हैं, वहीं दूसरी ओर व्यक्तियों के मानसिक-स्वभाव और बाहरी आचरण द्वारा सामाजिक-प्रतिमानों और आदर्शों का स्वरूप निर्धारित करते हैं।

यद्यपि यह सही है कि कई बार प्रतिकूल सामाजिक-परिस्थितियाँ और प्रतिकूल वातावरण हमारे मानसिक-असन्तुलन के लिए जिम्मेदार होते हैं, परन्तु एक दृढ़ आध्यात्मिक पुरुष इन स्थितियों से अप्रभावित रहता है। जैन धर्म के अनुसार आध्यात्मिक-रूप से विकसित आत्मा मानसिक स्तर पर बाह्य-हलचलों से अप्रभावित रहती है, परन्तु विकारी-आत्मा निश्चिततया हमारी सामाजिक-शान्ति को प्रभावित करती है। आधुनिक तनाव-सिद्धान्त भी इस विचार का समर्थन करते हैं। एक पुस्तक जिसका नाम है 'Tensions that causes Wars' हमें बताती है— "आर्थिक असमानताएं, असुरक्षा एवं निराशा समाज को विभिन्न वर्गों में बांटते हैं और विभिन्न राष्ट्रों के बीच टकराहटों को जन्म देते हैं,"<sup>८</sup> परन्तु जैन-दृष्टिकोण के अनुसार आर्थिक असमानता और असुरक्षा का भाव उन व्यक्तियों को प्रभावित नहीं कर सकता है, जो आत्मसन्तोषी तथा भय और आशंकाओं से मुक्त हैं। जहाँ तक असफलता या निराशा का प्रश्न है, वह हमारी महत्त्वाकांक्षा, उदासीनता, अकर्मण्यता, संकीर्णता, मनोमालिन्यता आदि से उत्पन्न होती है, जो केवल इच्छाओं की परिमितता या समाप्ति द्वारा ही नियंत्रित हो सकती है, इसलिये प्रथमतः हमें

आत्मशान्ति या मानसिक-शान्ति बनाए रखने का प्रयास करना चाहिए।

जैनागमों में शान्ति के महत्त्व और स्वभाव के सम्बन्ध में पक्के प्रमाण मिलते हैं। सूत्रकृतांग में कहा गया है—‘जिस प्रकार से पृथ्वी प्राणी जगत् की निवासस्थली है, उसी प्रकार से वर्तमान में जो आत्माएं आत्मज्ञान से प्रकाशित हैं, भूतकाल में जो थीं और भविष्य में जो होंगी— वे शान्ति की निवासस्थली हैं।’<sup>१९</sup> ये आत्माएं आध्यात्मिक ऊँचाइयों को प्राप्त कर चुकी हैं और सदैव शांत-अवस्था में रहती हैं तथा शांति का उपदेश देती हैं। जैनाचार्यों की दृष्टि में शांति का अभिप्राय मन की शान्त-अवस्था से है, इसलिए वे शान्ति शब्द को समभाव-अवस्था या समता से समानीकृत करते हैं। शान्ति मानसिक-समता और सामाजिक-समानता पर निर्भर करती है। जब मानसिक-समता खण्डित होती है, तो मनःशान्ति भंग होती है, ठीक इसी प्रकार से जब सामाजिक-समानता, असमानता का रूप ले लेती है, तो सामाजिक शान्ति भंग हो जाती है। जैनधर्म, धर्म के रूप में मानसिक समता और सामाजिक-समानता की साधना के अलावा कुछ नहीं है। इसके लिए वे विशेष रूप से प्राकृत-भाषा का शब्द ‘समाइय’ (समता) का उपयोग करते हैं, जो जैनधर्म की मूल अवधारणा है। यह वह धुरी है, जिसके चारों ओर सम्पूर्ण जैनधर्म परिभ्रमण करता है। अंग्रेजी-भाषा भिन्न-भिन्न सन्दर्भों में, ‘समाइय’ शब्द के विविध अर्थों का संकेत करती है जैसे-समता, समानता, सहिष्णुता, सद्भाव, पूर्णशांति, न्यायसंगतता, आदि। कभी-कभी इस शब्द का अर्थ मन की सन्तुलित अवस्था से लिया जाता है, जिसमें मन भावनात्मक-आवेगों-संवेगों, सुख-दुःख, हर्ष-विषाद, सफलता-असफलता आदि से अकम्प-अडोल या अविचलित रहता है, तो कभी इसका अर्थ एक ऐसे व्यक्तित्व से लिया जाता है, जो राग-द्वेष के दुष्चक्र से पूर्णतया मुक्त हो गया है, अर्थात् एक पूर्णतया शांत व्यक्तित्व। ‘समता’ या ‘शान्ति’ शब्द की ये आभ्यन्तरिक परिभाषाएँ हैं, परन्तु जब इस शब्द का उपयोग बाह्य रूप में किया जाता है, तो इसका अर्थ प्राणीजगत् में समानता की भावना से लिया जाता है और तब यह सामाजिक-समानता और सामाजिक सद्भाव का संदेश सम्प्रेषित करता है।

**शान्ति या समता-जीवन का चरम लक्ष्य**

जैन-विचारकों के अनुसार जीवन का चरम लक्ष्य हमारे मूलभूत स्वभाव, अर्थात् शान्ति या समता की स्थिति को प्राप्त करना है। जैनधर्म के सबसे प्राचीन ग्रन्थ आचारांगसूत्र में हम धर्म की दो परिभाषाएँ पाते हैं। एक-शान्ति के रूप में और दूसरी-अहिंसा के रूप में। श्रमण भगवान् महावीर कहते हैं—“महात्मा

पुरुष, शान्ति या समता या समभाव की साधना के रूप में धर्म का प्रतिपादन करते हैं।<sup>१०</sup> शान्ति या चित्त की शान्त अवस्था, धार्मिक-साधना का केन्द्रीय तत्त्व है, क्योंकि यह प्राणीजगत् और मानवजाति का मूलभूत स्वभाव है। एक अन्य जैन-धार्मिक ग्रन्थ भगवतीसूत्र में श्रमण भगवान् महावीर और उनके ज्येष्ठ अन्तेवासी इन्द्रभूति गौतम के बीच हुए संवाद का वर्णन मिलता है जिसमें एक प्रश्न के अन्तर्गत गौतम पूछते हैं— “भगवन्! आत्मा का स्वभाव क्या है?” महावीर उत्तर देते हैं—“आत्मा का स्वभाव शान्ति या समता है। गौतम पुनः पूछते हैं— भगवन्! आत्मा का चरम लक्ष्य क्या है?” महावीर उत्तर देते हैं—“गौतम! आत्मा का चरम लक्ष्य भी शान्ति या समता या समभाव-अवस्था को प्राप्त करना है।”<sup>११</sup>

सूत्रकृतांग में शान्ति शब्द को मुक्ति के समतुल्य माना गया है।<sup>१२</sup> इस प्रकार शान्ति, आत्मा का मूलभूत स्वभाव, अर्थात् स्व-स्वभाव होने से, जैनाचार्यों ने इसे जीवन का चरम लक्ष्य निरूपित किया है।

जैनधर्म की दृष्टि में स्व-स्वभाव या चित्त की शांत अवस्था का बोध करने की साधना ही धर्म है। धर्म अपने मूलभूत स्वभाव की अनुभूति करने का साधन है, जो साधन चित्त के समाधिस्थ या साक्षीभाव के रूप में स्थित होने से है। इस अवस्था में चित्त बाहरी-हलचलों से अप्रभावित रहता है। यह विशुद्ध आत्मभाव- अवस्था है, जिसे जैनधर्म की तकनीकी शब्दावली में ‘सामायिक’ शब्द के नाम से जाना जाता है। इस अवस्था में आत्मा बाहरी-स्फुरणों, आवेगों और संवेगों तथा कषाय-भावों में पूर्णतया मुक्त रहती है। आध्यात्मिक-आनंद, जो कि चित्त की शांत-अवस्था का एक सकारात्मक-पहलू भी है, की अनुभूति करने की पहली शर्त मानसिक-तनावों से मुक्त होना है, अर्थात् आत्मा का विभाव से स्वभाव में स्थित होना या विकारी-भावों से रहित होना है। कोई भी व्यक्ति, तनाव में रहना नहीं चाहता है। वह बेचैनी में नहीं, अपितु मानसिक-शान्ति से जीना चाहता है। यह तथ्य बताता है कि मानसिक-शान्ति के लिए, हमारा मूलभूत स्वभाव चित्त में सक्रिय रहता है। वस्तुतः, धर्म इस शान्त-स्थिति, अर्थात् मानसिक-शान्ति को पाने का मार्ग होने के अतिरिक्त कुछ नहीं है। जैनधर्म के अनुसार जैनाचार्यों का यह कर्तव्य है कि वे व्यक्तिगत-स्तर पर मानसिक-शान्ति और सामाजिक-स्तर पर शान्तिपूर्ण वातावरण को पुनर्स्थापित करने के लिए, साधनापथ और आचरण-संहिता की दृष्टि से मानव-समाज का मार्गदर्शन करें। चैतन्य-शान्ति या मानसिक-शान्ति या तनावरहित-अवस्था को प्राप्त करने के लिए, जैनधर्म में सामायिक करने का निर्देश किया गया है। जैनधर्म में साधु एवं

गृहस्थ के लिए छः आवश्यक कर्तव्यों (षडावश्यक) का विधान किया गया है, उसमें सामायिक-कर्तव्य का प्रथम स्थान है। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि मानसिक-समता या चित्त-शान्ति कैसे प्राप्त हो सकती है? जैन-विचारणा के अनुसार, वीतराग-भाव या अनासक्त-भाव की साधना द्वारा इसे प्राप्त किया जा सकता है। वस्तुतः, राग-भाव ही हमारी चित्त-अशांति या मानसिक-तनाव का एकमात्र कारण है।

जैसा कि मैं पूर्व में कह चुका हूँ कि मानसिक-तनाव हमारे युग की ज्वलंत समस्याओं में से एक है। ऐसे राष्ट्र, जो अधिक सुसभ्य एवं सुशिक्षित होने का दावा करते हैं तथा आर्थिक-दृष्टि से समृद्धशाली हैं, वे अपेक्षाकृत अधिक मानसिक-तनावग्रस्त हैं। जैनधर्म का सर्वोच्च लक्ष्य, मनुष्य को दुःखों और मानसिक-तनावों से मुक्त करना है। इस सन्दर्भ में सर्वप्रथम हमें मानसिक तनावों के कारणों को जानने का प्रयास करना चाहिए। जैनधर्म की दृष्टि में मानवजाति का दुःख, दैहिक या भौतिक न होकर चैतन्यिक या मानसिक है। मानसिक तनावों के मूल में पदार्थों के प्रति हमारी राग-वृत्ति है। यह राग-वृत्ति ही सभी दुःखों का मूल है। प्रसिद्ध जैनागम उत्तराध्ययनसूत्र में उल्लिखित है— “मनुष्य हो या देवता, सभी के मानसिक एवं शारीरिक दुःखों का मूल राग-भाव ही है। राग, मानसिक-तनावों का मूल है। सांसारिक सुखों के प्रति अनासक्त दृष्टि या निर्ममत्व बुद्धि ही मानवजाति को मानसिक तनावों से छुटकारा दिला सकती है।”<sup>१३</sup> श्रमण भगवान् महावीर के अनुसार इन्द्रिय-सुखों के प्रति, रीगात्मक वृत्ति बनी रहने से ही, मनुष्य इस विषम सांसारिक-चक्र में परिभ्रमण करता रहता है। वे कहते हैं— “जिस व्यक्ति को मोह नहीं रहा है, उसने समस्त दुःखों को नष्ट कर दिया है, और जिस व्यक्ति में तृष्णा नहीं रहती है, उसने लोभ को मिटा दिया है; जिस व्यक्ति में लोभ नहीं रहा है, उसने तृष्णाओं का नाश कर दिया है, और जो व्यक्ति राग-वृत्ति या तृष्णा से मुक्त हो गया है, उसने इच्छाओं को मिटा दिया है और जिसमें इच्छा ही नहीं रही, वह सर्वदुःखों से मुक्त हो गया है।”<sup>१४</sup> वस्तुतः, भौतिक पदार्थों द्वारा मानवीय इच्छाओं की पूर्ति करने का प्रयास करना तो इच्छारूपी जड़ों को सींचने के समान ही है, जिसके परिणामस्वरूप नित नई-नई इच्छाओं की शाखाएं प्रस्फुटित होती हैं। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सांसारिक-सुखों के प्रति लालसा और राग-वृत्ति ही मानवजाति के समस्त दुःखों और द्वन्द्वों का एकमात्र कारण है।

यदि मनुष्य तनावमुक्त होना चाहता है, तो उसे जीवन के प्रति अनासक्त-दृष्टि, निर्ममत्व-बुद्धि विकसित करनी होगी। जैनधर्म का यह विश्वास है कि आसक्ति

जितनी मात्रा में कम होगी, जीवन में शान्ति उतने ही अनुपात में अधिक होगी। इस प्रकार जब मनुष्य में राग-वृत्ति या आसक्ति समाप्त हो जाती है, तो वह मानसिक तनावों और मनोविकारों से मुक्त हो जाता है।

**अपरिग्रह : आर्थिक असमानता का समाधानकारी तत्त्व**

राग-वृत्ति या आसक्ति सत्ता, स्वामित्व और संग्रह की इच्छा को जन्म देती है। यह हमारी लालच वृत्ति के अतिरिक्त कुछ नहीं है। कहा गया है- “लोभ-वृत्ति सभी दुःखों, कष्टों का मूल है। यह सभी सद्गुणों को नष्ट करने वाली होती है।”<sup>१५</sup> क्रोध, अहंकार, प्रमाद, धोखेबाजी, आदि सभी राग-भाव, मेरेपन का भाव या लोभ-वृत्ति की ही प्रशाखाएँ हैं। हिंसा, जिससे हमारी मानसिक और सामाजिक शान्ति प्रभावित होती है, स्वामित्व की इच्छा की परिणति है। सूत्रकृतांग (१/२/२) में कहा गया है- “जिनके पास जो कुछ भी प्रिय, छोटी या बड़ी, सजीव या निर्जीव वस्तुओं का संग्रह है, वे दुःखों और द्वन्द्वों से छुटकारा नहीं पा सकते हैं।” स्वामित्व और संग्रह, समाज में आर्थिक-असमानता के अगुआ हैं, जिनके कारण युद्ध होते हैं, अतः समाज में शान्तिपूर्ण वातावरण और अहिंसा आधारित आचरण-संहिता को प्रभावी बनाने के लिए, स्वामित्व और संग्रह की इच्छा पर लगाम कसना सबसे पहली जरूरत है। इसीलिए, भगवान् महावीर ने श्रमण-श्रमणियों के लिए पूर्ण अपरिग्रह का और श्रावक-श्राविकाओं के लिए स्वामित्व और संग्रह की सीमा (परिग्रह-परिमाणव्रत) बांधने का और उपभोग पर नियंत्रण (उपभोग-परिभोग परिमाणव्रत) करने का विधान प्रस्तुत किया है। जैनधर्म का मानना है कि यदि हम पृथ्वी पर शान्ति चाहते हैं, तो समाज में व्याप्त आर्थिक असमानता की गहरी खाई को पाटना होगा और उपभोग के स्तर में विद्यमान व्यापक अन्तर को न्यून स्तर पर लाना होगा। युद्ध और हिंसा के कारणों में स्वामित्व की इच्छा प्रमुख है, क्योंकि इसके कारण समाज में आर्थिक-असन्तुलन की स्थिति उत्पन्न होती है। परिणामस्वरूप, समाज में अमीर और गरीब वर्ग अस्तित्व में आते हैं तथा वर्ग-संघर्ष एवं शोषण-वृत्तियों का उदय होता है।

जैनाचार्यों के अनुसार हम अपने स्तर पर स्वामित्व, संग्रह और उपभोग की सीमाएं निर्धारित कर इस पृथ्वी पर आर्थिक-खुशहाली और शान्तिपूर्ण वातावरण की पुनर्स्थापना कर सकते हैं।

**अहिंसा : मानसिक एवं सामाजिक शान्ति की पुनर्स्थापना का सर्वोच्च सिद्धान्त**

मानसिक-शान्ति, आभ्यन्तरिक अनुभूति है। जब इसके आधार पर सामाजिक जीवन में व्यवहार किया जाता है, तो यह अहिंसा कहलाती है। अहिंसा,

मानसिक-शान्ति की बाह्य अभिव्यक्ति है। आचारांगसूत्र में श्रमण भगवान् महावीर उद्घोषित करते हैं—‘भूतकाल में जो तीर्थंकर भगवान् हो गए हैं, वर्तमान में जो हैं और भविष्य में जो होंगे—वे सब इस प्रकार से बोलते हैं, कहते हैं, समझाते हैं, प्ररूपणा करते हैं कि सभी प्राणियों (द्विन्द्रियादि), सभी भूतों (वनस्पति), सभी जीवों (पंचेन्द्रिय) और सभी सत्त्वों (पृथ्वीकायादि) को दण्डादि से नहीं मारना चाहिए, उन पर आज्ञा नहीं चलाना चाहिए, उन्हें दास की भाँति अधिकार में नहीं रखना चाहिए, उन्हें शारीरिक व मानसिक सन्ताप नहीं देना चाहिए और उन्हें प्राणों से रहित नहीं करना चाहिए। यही धर्म शुद्ध है, नित्य है और शाश्वत है।’<sup>१४</sup> अन्य शब्दों में, अहिंसा धर्म का विशुद्ध और शाश्वत रूप है। जैनधर्म में अहिंसा वह धुरी है, जिसके इर्द-गिर्द उसका सम्पूर्ण आचारशास्त्र परिभ्रमण करता है। जैनधर्म के अनुसार हिंसा सभी दुर्गुणों का प्रतिनिधित्व करती है, जबकि अहिंसा सभी सदगुणों का प्रतिनिधित्व करती है। अहिंसा एकल गुण नहीं है, अपितु सदगुणों का समूह है। प्रश्नव्याकरणसूत्र में अहिंसा शब्द को शांति, सद्भाव, कल्याण, विश्वास, निर्भरता— के साथ समीकृत किया गया है।<sup>१५</sup> इस प्रकार अहिंसा एक व्यापक शब्द है, जिसमें सदाचार के सभी मानदण्ड और सभी सदगुण सन्निहित हैं।

वस्तुतः, अहिंसा समस्त प्राणीजगत् के साथ समान व्यवहार के अतिरिक्त कुछ नहीं है। समानता की अवधारणा अहिंसा के सिद्धान्त का केन्द्रीय तत्त्व है। जीवन के प्रत्येक रूप का सम्मान करना, अहिंसा का पालन करना है। जैनधर्म जाति, रंग और पंथ के आधार पर मनुष्यों में भेद नहीं करता है। उसके अनुसार ये सभी बंधन या सीमाएं कृत्रिम हैं, मनुष्य निर्मित हैं। सभी मनुष्यों को शान्तिपूर्ण जीवन जीने का समान अधिकार है। यद्यपि हिंसा अपरिहार्य है, फिर भी यह हमारे जीवन का मार्गदर्शक सिद्धान्त नहीं हो सकता है। इसका कारण यह है कि यह हमारे प्राकृतिक-नियमों की अवधारणा और विवेक-बुद्धि के आधार पर निर्णय लेने के विरुद्ध सिद्धान्त है। यदि मैं सोचता हूँ कि किसी को भी मेरा जीवन समाप्त करने का कोई अधिकार नहीं है, ठीक उसी प्रकार से मुझे भी अन्य प्राणियों का जीवन समाप्त करने का कोई अधिकार नहीं है। ‘दूसरों के जीवन की कीमत पर जीना’ या ‘दूसरों को मारकर जीना’ का सिद्धान्त अपने-आप में विरोधाभासी है। समानता का सिद्धान्त मानता है कि हर-एक को जीने का अधिकार है। जीवन का मार्गदर्शक सिद्धान्त ‘दूसरों के जीवन की कीमत पर जीना’ या ‘दूसरों को मारकर जीना’ न होकर ‘दूसरों के साथ जीना’ या ‘दूसरों के लिए जीना है। (परस्परोपग्रहो जीवानाम्)’<sup>१६</sup>। यद्यपि सांसारिक-जीवन में पूर्ण

अहिंसा संभव नहीं है, फिर भी हमारे जीवन का ध्येय-वाक्य 'कम से कम हिंसा बेहतर जीवन है' होना चाहिए। संघर्ष नहीं, अपितु सहयोग जीवन का नियम है। मुझे अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए दूसरों के सहयोग की आवश्यकता है, इसलिए मुझे भी दूसरों के जीवन में सहयोगी बनना चाहिए।

इससे भी आगे, हमें इस तथ्य से भी अवगत होना चाहिए कि जैनधर्म में अहिंसा केवल एक नकारात्मक अवधारणा नहीं है, अर्थात् 'किसी को मत मारो', परन्तु इसका सकारात्मक पक्ष भी है, अर्थात् 'मानवजाति का कल्याण।' एक बार श्रमण भगवान् महावीर से पूछा गया—'हे भगवन्! एक व्यक्ति जरूरतमंदों को अपनी सेवाएँ दे रहा है और दूसरा आपकी पूजा-अर्चना कर रहा है, इन दोनों में कौन आपका सच्चा अनुयायी है?' भगवान् ने उत्तर दिया— 'वह, जो जरूरतमंदों को अपनी सेवाएँ दे रहा है, मेरा सच्चा अनुयायी है, क्योंकि वह मेरे द्वारा बताए गये मार्ग का अनुसरण कर रहा है।'<sup>१९</sup> विश्व के लगभग सभी धर्मों में अहिंसा की अवधारणा और जीवन के प्रति सम्मान-भाव को स्वीकार किया गया है, परन्तु जैन धर्म में इस पर बहुत ही सूक्ष्मता से ध्यान दिया गया है। जैन धर्म में मनुष्य एवं पशु-जीवन को मारना ही प्रतिबन्धित नहीं है, अपितु वनस्पति-जगत् के प्रति भी यही प्रतिबन्ध-व्यवस्था प्रतिपादित है। पेड़-पौधों को नुकसान पहुँचाना, कुओं को सुखाना, जल और वायु को प्रदूषित करना भी हिंसक कृत्य माने गए हैं, क्योंकि इनसे पर्यावरण-सन्तुलन बिगड़ता है।

जैन धर्म का मूलभूत सिद्धान्त है— जीवन चाहे किसी भी रूप में हो, उसका सम्मान होना चाहिए। हमें किसी का जीवन लेने, अर्थात् किसी को मारने का कोई अधिकार नहीं है। श्वेट्जर कहते हैं—'जीवन को सम्पोषित करना या उसका सहयोग करना या उसे आगे बढ़ाना पुण्य है और उसे नुकसान पहुँचाना या नष्ट करना या उसके मार्ग में बाधा उपस्थित करना पाप है।' वे आगे कहते हैं—'एक दिन ऐसा हो सकता है, जब जीवन के सभी रूपों का सम्मान करने की जरूरत सार्वभौमिक रूप से स्वीकार की जाएगी।'<sup>२०</sup> दशवैकालिक सूत्र में उल्लिखित है—'जिस प्रकार से हम जीना चाहते हैं उसी प्रकार से हर प्राणी जीना चाहता है, कोई मरना नहीं चाहता। इस सामान्य तर्क के आधार पर निर्ग्रन्थ हिंसा को प्रतिबन्धित करते हैं।'<sup>२१</sup> यहां यह कहा जा सकता है कि जैनों की अहिंसा की अवधारणा अतिरंजित या अतिवादी या अव्यावहारिक है, परन्तु मानव-समाज के सन्दर्भ में हम इसे चुनौती नहीं दे सकते हैं। यद्यपि जैनधर्म में पूर्ण अहिंसा (आभ्यन्तरिक एवं बाह्य दोनों) का आदर्श लक्ष्य नियत किया गया है, परन्तु

व्यावहारिक जीवन में इस आदर्श लक्ष्य को उपलब्ध करना किसी भी तरह सम्भव नहीं है। पूर्ण अहिंसा एक आध्यात्मिक आदर्श है, जिसका क्रियान्वयन केवल आध्यात्मिक तल पर ही सम्भव हो सकता है। एक व्यक्ति का वास्तविक जीवन भौतिक-आध्यात्मिक जीवन का सम्मिश्रण है, अतः इस स्तर पर पूर्ण अहिंसा सम्भव नहीं है। जैन-विचारकों के अनुसार हिंसा चार प्रकार की होती है— (१) संकल्पी या आक्रामक-हिंसा या उद्देश्यपूर्वक मारना (२) विरोधी या रक्षात्मक-हिंसा, अर्थात् समाज में शान्ति, न्याय और सुरक्षा सुनिश्चित करने के लिए या आत्मरक्षा के लिए या दूसरों के जीवन को बचाने के लिए की जाने वाली हिंसा (३) उद्योगजा-हिंसा, अर्थात् खेती करने के दौरान या कारखानों या उद्योगों को संचालित करने में होने वाली सामान्य हिंसा और (४) आरम्भी अर्थात् गृहस्थ-जीवन के अन्तर्गत नित्यकर्म, जैसे स्नान, भोजन बनाना, टहलना आदि के दौरान होने वाली हिंसा।

हिंसा के प्रथम प्रकार, संकल्पी-हिंसा से सभी को दूर रहना चाहिए, क्योंकि यही हमारी मूल-वृत्ति है। जहाँ तक वैचारिक-हिंसा का सम्बन्ध है, प्रत्येक व्यक्ति अपने विचारों का स्वामी होता है, इसलिए इस क्षेत्र में सभी को अहिंसक होने का प्रयास करना चाहिए। यद्यपि बाह्य परिस्थितियाँ इस स्तर पर हमें प्रभावित कर सकती हैं, परन्तु संचालित नहीं कर सकती हैं। व्यावहारिक दृष्टि से संकल्पी-हिंसा आक्रामक होती है, इसलिए यह हिंसा न तो आत्मरक्षा के लिए और न ही जीवन जीने के लिए आवश्यक है, अतः सभी को इससे बचना चाहिए।

जहाँ तक व्यक्ति के भौतिक-स्तर पर जीवन जीने का संबंध है, हिंसा के अन्य रूप, अर्थात् रक्षात्मक, उद्योगजा आदि अपरिहार्य हैं, परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि अहिंसा का आदर्श व्यावहारिक नहीं होने से मानव जाति के लिए आवश्यक नहीं है। भौतिक जीवन से परे रहकर ही एक व्यक्ति पूर्ण अहिंसा के आदर्श-पथ पर जितना आगे जाना चाहता है, जा सकता है। रक्षात्मक-हिंसा रक्षात्मक-गतिविधियों, अर्थात् जान-माल की हिफाजत करने के लिए आवश्यक होती है। बाह्य-परिस्थितियाँ एक व्यक्ति को आत्मरक्षार्थ या अपने साथी-सम्बन्धियों की रक्षा के लिए हथियार उठाने या हिंसक होने के लिए बाध्य करती हैं। ऐसे लोग, जो सत्ता और सम्पत्ति से जुड़े होते हैं और जिन पर दूसरों की रक्षा करने का सामाजिक उत्तरदायित्व होता है, वे रक्षात्मक हिंसा का त्याग करने में असमर्थ होते हैं, क्योंकि वे अपने परिवार के सदस्यों और सगे-सम्बन्धियों की रक्षा करने के लिए वचनबद्ध होते हैं। इसी प्रकार से पुलिस या फौज में

नौकरी करने वाले व्यक्ति भी इस हिंसा से छुटकारा नहीं पा सकते हैं, क्योंकि वे मानवाधिकारों एवं राष्ट्रीय-सम्पत्ति के अभिरक्षक होते हैं। प्रो. मूर्ति दृढ़तापूर्वक कहते हैं—'जैन, बौद्ध, हिन्दू-धर्मग्रन्थों और नीतिज्ञों द्वारा आक्रामक और अन्यायपूर्ण तरीकों से युद्ध करने की निंदा की गई है, परन्तु उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि रक्षात्मक दृष्टि से दोनों पक्ष द्वारा न्यायसंगत तरीके से तथा एक-दूसरे के प्रति करुणा और मैत्री भाव रखते हुए युद्ध लड़ा जा सकता है।'<sup>२२</sup>

यह हकीकत है कि हमारे समय में भी महात्मा गांधी ने अहिंसक तरीके से विरोध करने की योजना बनाई थी और उस पर उन्होंने और उनके अनुयायियों ने सफलतापूर्वक अमल भी किया था, परन्तु सबके लिए अहिंसक तरीके से सफलतापूर्वक विरोध करना सम्भव नहीं होता है। ऐसा करने का साहस केवल उन्हीं व्यक्तियों में होता है, जो सत्ता और सम्पत्ति के प्रति अनासक्त हो गए हों, यहाँ तक कि जिनमें अपने शरीर के प्रति भी ममत्वबुद्धि नहीं रही है, जिनका हृदय निर्मल हो गया है, वे ही अपने अधिकारों की रक्षा अहिंसक-विधि से कर सकते हैं। पुनः, ऐसा प्रयास केवल सुशिक्षित, सुसंस्कारित और सभ्य समाज में ही परिणामदायी हो सकता है। वस्तुतः, अहिंसक तरीके से विरोध करना भी परिणामदायी हो सकता है, जब प्रतिपक्ष भी पाषाण-हृदय का न होकर इन्सानी हृदयवाला हो। इस प्रकार के प्रयासों की सफलता तब सन्देहास्पद हो जाती है, जब इसका प्रयोग ऐसे व्यक्ति और समाज के साथ किया जाता है, जो मानवीय मूल्यों में विश्वास नहीं रखता है और हिंसात्मक तरीकों से स्वार्थपूर्ति को अपना आदर्श मानता है। फिर भी ऐसे कई दृष्टान्त इतिहास के पन्नों में मिलते हैं जब क्रूर व्यक्ति भी एक दिन अहिंसक बन जाता है।

जहां तक उद्योगजा-हिंसा और दैनिक जीवन के अन्तर्गत नित्यकर्मों में होने वाली हिंसा का प्रश्न है, कोई भी व्यक्ति इससे पीछा नहीं छोड़ा सकता है। एक व्यक्ति, जो कि अपनी आजीविका चलाना चाहता है, भौतिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि करना चाहता है, उसके लिए, वनस्पति-जगत् के प्रति संकल्पी हिंसा अपरिहार्य है। जैनधर्म में एक गृहस्थ के लिए संकल्पी हिंसा त्याज्य है, चाहे वह जीवन-निर्वाह या आजीविका चलाने के लिए आवश्यक ही क्यों न हो। इस प्रकार से रक्षात्मक गतिविधियों और युद्धों में होने वाली हिंसा के सम्बन्ध में जैनाचार्यों का कहना है कि वह यथासंभव कम-से-कम होनी चाहिए। इसप्रकार अबोध एवं निरीह प्राणियों को किसी भी कीमत पर नहीं मारा जाना चाहिए। जैनाचार्यों ने अहिंसक तरीके से युद्ध करने और हिंसा को कम करने के लिए,

यहां तक कि न्यायपूर्ण और सुरक्षित ढंग से युद्ध लड़ने के लिए अनेक तरीकों और उपायों के सुझाव प्रस्तुत किए हैं। भरत और बाहुबली के बीच हुई लड़ाई ऐसे अहिंसक-युद्ध का श्रेष्ठ उदाहरण है।

यद्यपि कुछ अन्य प्रकार की हिंसा भी हमारे जीवन में अपरिहार्य होती है, किन्तु इस आधार पर हमें इस निष्कर्ष पर नहीं पहुँचना चाहिए कि वर्तमान समय में अहिंसापूर्ण आचरण प्रासंगिक नहीं है। जिस प्रकार से जीवन के लिए आवश्यक हिंसा अपरिहार्य है, उसी प्रकार से जहाँ तक मानवजाति के अस्तित्व का सम्बन्ध है, वह पारस्परिक सहयोग, एक-दूसरे के प्रति त्याग एवं सम्मान की भावना पर निर्भर करता है। यदि सामाजिक-जीवन के लिए ये गुण-तत्त्व अनिवार्य हैं, तो हम कैसे कह सकते हैं कि अहिंसा, मानव-जीवन के लिए प्रासंगिक नहीं है। समाज हिंसा पर नहीं, अपितु अहिंसा पर और केवल अपने अधिकारों के लिए मांग करने पर नहीं, अपितु दूसरों के अधिकारों को स्वीकार करने के लिए अपने कर्तव्य पर खड़ा होता है। इस प्रकार अहिंसा मानव-समाज के अस्तित्व के लिए अपरिहार्य सिद्धान्त है। वर्तमान समय परमाणु हथियारों का युग है, जिसके कारण मानवजाति का अस्तित्व खतरे में है। आचारांगसूत्र (ईसा पूर्व चौथी शताब्दी) में श्रमण भगवान् महावीर उद्घोषित करते हैं—'अत्थि सत्थंपरेण परं, नत्थि असत्थं परेण परं,' अर्थात् शस्त्रों में एक से बढ़कर एक श्रेष्ठ हो सकता है, परन्तु अहिंसा से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है।<sup>२३</sup> केवल अहिंसा की अनुपालना द्वारा ही मानव जाति को बचाया जा सकता है। पारस्परिक-विश्वास, सभी प्राणियों के प्रति समादर भाव द्वारा ही मानव-समाज में शांति और सद्भाव की पुनर्स्थापना हो सकती है और जान-माल की रक्षा की जा सकती है।

**सभी धर्मों और विचारधाराओं के प्रति समादर भाव**

धार्मिक मतान्धता या असहिष्णुता हमारे युग का एक और अभिशाप है। जैनधर्म अपने आरम्भिक काल से ही मानव-समाज की शान्ति, सद्भाव और सहिष्णुता का पाठ पढ़ाता आया है, और इन्हीं सार्वभौमिक-मूल्यों में विश्वास करता है। अपने अस्तित्व के सम्पूर्ण ऐतिहासिक-काल-क्रम में दूसरों की आस्थाओं और धार्मिक विचारधाराओं के प्रति उसका दृष्टिकोण सदैव ही सहिष्णु और सम्मानजनक रहा है। जैनधर्म के इतिहास में धार्मिक टकराहट का मुश्किल से ही ऐसा कोई उदाहरण मिलता है, जिसमें धर्म के नाम पर हिंसा और रक्तपात हुआ हो। वह तो सदैव वैचारिक-मतभेदों की चर्चा कर अनेकांत दृष्टि से उन्हें सुलझाने का ही प्रयत्न करता रहा है। जैनाचार्यों की शिक्षा यह है कि दूसरों की

विचारधारा एवं धार्मिक सिद्धान्तों का विरोध करते समय उन्हें पूर्ण आदर देना चाहिए तथा यह भी स्वीकार करना चाहिए कि उनकी धारणाएं भी किसी निश्चित दृष्टिकोण से न्यायसंगत हो सकती हैं।

धर्मोन्माद और असहिष्णुता फैलाने वाले कारणों में अंधविश्वास प्रमुख है। यह मिथ्यात्वमोह का परिणाम है, अतः धर्म के प्रति यह अविवेकपूर्ण दृष्टिकोण है। जैनाचार्यों के अनुसार मोह (मूर्च्छा) बंधन का प्रधान कारण है। यह विपर्यस्त बुद्धि का भी कारण है। जैनधर्म में मोह के विभिन्न प्रकार बताए गए हैं। उनमें दर्शन-मोह या दृष्टिराग (अन्धविश्वास) अपनी प्रकृति के अनुसार सर्वोपरि है। यह धार्मिक असहिष्णुता का केन्द्रीय तत्त्व है। इसके कारण व्यक्ति अपनी धार्मिक मान्यताओं और आस्थाओं को ही एकमात्र सत्य समझता है और अपने से विरोधी मान्यताओं और विश्वासों को असत्य मानता है, इसलिए वीतरागता सम्यक् दृष्टिकोण की सर्वप्रथम शर्त है। दुराग्रहपूर्ण मनोवृत्ति के कारण व्यक्ति वस्तु के यथार्थ स्वरूप के सम्बन्ध में सम्यक् विचार करने में ठीक उसी प्रकार असमर्थ हो जाता है, जिस प्रकार पीलिया की बीमारी से ग्रस्त व्यक्ति या अपनी आँखों पर रंगीन चश्मा चढ़ाया हुआ व्यक्ति वस्तुओं का सही रंग देखने में असमर्थ हो जाता है। दार्शनिक-चिन्तन के क्षेत्र में राग और द्वेष दो बहुत बड़े शत्रु हैं, सत्य तो वीतरागदृष्टि से ही प्रकट हो सकता है।<sup>१४</sup>

एक निष्पक्ष और पूर्वाग्रह से रहित व्यक्ति ही अपने विरोधियों की विचारधारा एवं धर्म में निहित सत्यांशों को समझ सकता है और इसी प्रकार उन्हें भी चिन्तन करने के लिए प्रेरित कर अपनी विचारधारा और धर्म को निन्दित होने से बचा सकता है।

धार्मिक-नेताओं, मताग्रहों, धार्मिक सिद्धान्तों और कर्मकाण्डों के प्रति रागात्मक दृष्टि व्यक्ति में अन्धविश्वास का कारण बनती है, परिणामतः, समाज में धार्मिक असहिष्णुता और धर्मोन्माद का वातावरण निर्मित होता है।

जैनधर्म कहता है कि एक सत्यान्वेषी या वीतरागता को पाने की अभिलाषा रखने वाले के लिए अपने धर्मगुरु, धर्मग्रन्थों और साधना-मार्ग के प्रति राग-भाव रखना भी उसके आध्यात्मिक विकास के मार्ग में बहुत बड़ी बाधा है। राग, धर्म के प्रति हो या धर्म विरुद्ध द्वेष के बिना नहीं रह सकता है। वस्तुतः रागात्मकतता अन्धविश्वास पैदा करती है और अन्धविश्वास से घृणा, असहिष्णुतापूर्ण आचरण की उत्पत्ति होती है, इसलिए जैनाचार्य व्यक्ति को रागात्मकता से ऊपर उठ जाने पर जोर डालते हैं, क्योंकि यही पक्षतापूर्ण दृष्टिकोण और असहिष्णुतापूर्ण आचरण का मूल कारण है।

यद्यपि जैनधर्म में त्रिरत्नों में से एक- सम्यग्दर्शन, अर्थात् सम्यक्श्रद्धा की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है, किन्तु अन्धश्रद्धा असहिष्णुता की जननी है, इसलिये जैनधर्म कभी भी अन्धश्रद्धा का समर्थन नहीं करता है। जैनाचार्य निश्चय पूर्वक कहते हैं कि सम्यग्दर्शन, सम्यक् ज्ञान का अनुगामी होना चाहिए। सम्यक् ज्ञान या तर्कबुद्धि द्वारा अनुमोदित श्रद्धा, अन्धी नहीं हो सकती है। जैनाचार्यों के अनुसार विवेक और श्रद्धा एक-दूसरे के पूरक हैं और दोनों के बीच कोई विवाद नहीं है। वे इस बात को दृढ़तापूर्वक कहते हैं कि विवेकरहित श्रद्धा अन्धी होती है और सम्यग्दर्शन (श्रद्धा/विश्वास/आस्था) का विकास, सम्यक् ज्ञान के बिना सम्भव नहीं है। वे कहते हैं कि धार्मिक आचार के नियमों का प्रज्ञापूर्वक समीक्षा या मूल्यांकन किया जाना चाहिए। उत्तराध्ययनसूत्र में महावीर के प्रधान शिष्य इन्द्रभूति गौतम, पार्श्वनाथ की परम्परा के तत्कालीन प्रमुख आचार्य केशी के समक्ष अपने इस विचार को दृढ़तापूर्वक रखते हैं कि दोनों की संघ-व्यवस्था में (परम्परा में) आचार के बाह्य निषेधों में जो अन्तर है, उसका तर्क या विवेक के आधार पर मूल्यांकन किया जाना चाहिए। वस्तुतः, विवेकबुद्धि के आधार पर ही विधि-निषेधों या धार्मिक-विचार के नियमों की सत्यता का सम्यक् मूल्यांकन हो सकता है।<sup>२५</sup>

यदि कोई व्यक्ति यह कहता है कि धर्म केवल श्रद्धा या विश्वास या आस्था पर आधारित है और विवेक का इसमें कोई स्थान नहीं है, तो वह निश्चित तौर पर एक ऐसा एकांगी दृष्टिकोण अपना रहा है, जो यह मानकर चलता है कि केवल उसके धर्मगुरु ही मानवजाति को संकट से उबार सकते हैं; उसकी साधना पद्धति ही परमश्रेय (मोक्ष) की अनुभूति करा सकती है और उसके धर्मग्रन्थ में वर्णित आचरण-संहिता और नियम ही समीचीन हैं, तो ऐसा व्यक्ति अपने धार्मिक नियमों का तर्कबुद्धि/प्रज्ञा/विवेक के आधार पर मूल्यांकन करने में असमर्थ रहता है। इसके स्थान पर यदि कोई व्यक्ति यह कहता है कि धार्मिक-जीवन में विवेक/प्रज्ञा/तर्कबुद्धि की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है, तो वह निश्चित ही अपने धार्मिक नियमों/सिद्धान्तों या रीति-रिवाजों का विवेकबुद्धि से मूल्यांकन या समीक्षा कर सकता है। एक रागी व्यक्ति इस कथन में विश्वास करता है 'जो मेरा है, केवल वही सत्य है,' जबकि एक वीतरागी इस कथन में विश्वास करता है-'जो सत्य है, वह मेरा है।' आचार्य हरिभद्र कहते हैं-'न तो महावीर के प्रति मेरा मोह है, न कपिल आदि ऋषियों के प्रति द्वेष; जिसकी भी बात युक्तिसंगत है, उसे हमें ग्रहण करना चाहिए।'<sup>२६</sup> इस प्रकार जब धर्म विवेकाभिमुख होता है, तो वहां अन्धविश्वास या असहिष्णुता के लिए कोई स्थान नहीं होता है, अतः

जो व्यक्ति या समाज धर्म के सम्बन्ध में विवेकपूर्ण दृष्टिकोण रखता है, वह निश्चित ही मताग्रही और असहिष्णु नहीं होगा।

मतान्धता और धर्मान्धता निरपेक्षवाद/एकान्तवाद की सन्तानें हैं। एक चरमपंथी या निरपेक्षवादी समझता है कि जो कुछ वह प्रतिपादित करता है या कहता है, वही सत्य है और जो कुछ भी दूसरे कहते हैं, वह मिथ्या है, जबकि सापेक्षतावादी चिन्तक का दृष्टिकोण यह होता है कि यदि किसी वस्तु, विचार, घटना आदि के सम्बन्ध में दो भिन्न-भिन्न संदर्भों में विचार किया जाए तो वह और उसका प्रतिपक्षी दोनों ही सही हो सकते हैं। इस प्रकार सापेक्षतावादी चिन्तक अन्य धर्मों के प्रति सहिष्णु-दृष्टिकोण अपनाता है। जैनाचार्य द्वारा प्रतिपादित अनेकान्तवाद के सिद्धान्त पर ही धार्मिक-सहिष्णुता की अवधारणा आधारित है। जैनाचार्यों की दृष्टि में अहिंसा ही धर्म का सार है। उसी से अनेकान्तवाद या स्याद्वाद की अवधारणा उत्पन्न होती है। एकान्तवाद या निरपेक्षवाद 'विचारों की हिंसा' का प्रतिनिधित्व करता है। वह अपने विरोधियों की विचारधारा और जीवनमूल्यों का खण्डन करता है और इस प्रकार दूसरों की भावनाओं को चोट पहुँचाता है। अनेकान्तवाद अहिंसापूर्वक सत्य की खोज करता है।

जैनाचार्यों का अनेकान्तवाद व्यक्ति को मतान्ध होने की अनुमति नहीं देता है और उसकी एकांगी सोच को भी निषिद्ध करता है। वह तो उदार-दृष्टिकोण और माध्यस्थ-भाव का समर्थन करता है। यही एकमात्र उपाय है, जिसके द्वारा धर्मों एवं विचारधाराओं में विविधता के कारण उत्पन्न संघर्षों को सुलझाया जा सकता है। अनेकान्तवाद अपने विरोधियों के विचारों को भी सत्य मानकर उनका आदर करता है। जैसा कि सिद्धसेन दिवाकर (ईसा की पांचवी शताब्दी) कहते हैं—'सभी सम्प्रदायों की विचारधारायें अपने-अपने दृष्टिकोण से सत्य हैं, वे असत्य तभी होती हैं, जब वे अपने से विरोधी विचारधाराओं की सत्यता का निषेध करती हैं। अनेकान्तवाद की समझ रखने वाला उन्हें सत्य और मिथ्या की कोटि में विभाजित नहीं करता है। वे मिथ्या तभी होते हैं, जब वे दूसरों के सत्य-मूल्यों को पूर्णरूप से नकारते हैं।'<sup>१०</sup> अनेकान्तवाद की इसी उदारदृष्टि ने जैनाचार्यों में सहिष्णु सोच विकसित की है।

जैनाचार्यों के इस सहिष्णु नजरिए का प्रतिपादन करते हुए उपाध्याय यशोविजयजी (१७वीं शताब्दी) निश्चयपूर्वक कहते हैं— 'एक सच्चा अनेकान्तवादी किसी भी धर्म की अवमानना नहीं करता है, बल्कि सभी धर्मों के साथ उसी प्रकार से समान व्यवहार करता है, जिस प्रकार से एक पिता अपने लड़कों के

साथ समान व्यवहार करता है। उसका दृष्टिकोण किसी के प्रति राग या द्वेष पर आधारित नहीं होता है। स्याद्वाद (अनेकान्तवाद) का सच्चा प्रेमी वही है, जो सभी धर्मों एवं आस्थाओं के प्रति समादर-भाव रखता है। सभी धर्मों के प्रति आदरभाव होना ही धार्मिक होने का सार है। धर्मग्रन्थों का एकपक्षीय गहन ज्ञान होने की तुलना में उनका अल्पज्ञान भी यदि व्यक्ति को उदार होने के लिए प्रेरित करता है, तो वह अधिक मूल्यवान है।<sup>१८</sup>

जैनाचार्य विश्व के सभी धर्मों की एकता में विश्वास करते हैं, परन्तु एकता से उनका आशय सर्वग्रासी एकता से नहीं है, अपितु धर्मों की उस विशेष प्रकार की एकता से है, जिसमें सभी धर्मों में समान रूप से प्रतिपादित सद्गुणों के आधार पर वे सभी धर्म परस्पर एक दूसरे से जुड़ें तथा जिसमें प्रत्येक धर्म का स्वतंत्र अस्तित्व एवं पहचान अक्षुण्ण रहे, साथ ही सभी धर्मों के प्रति समादर भाव हो। दूसरे शब्दों में, वे सभी धर्मों के सौहार्दपूर्ण, सहअस्तित्व और मानवजाति में शान्ति स्थापित करने के लिए कार्य करने में विश्वास करते हैं। धर्म के नाम पर होने वाली हिंसा को रोकने एवं संघर्षों को समाप्त करने के लिए कुछ लोग एक धर्म का नारा दे सकते हैं, परन्तु मानवीय विचारों में विविधता विद्यमान होने से न तो यह संभव है और न ही व्यावहारिक है। नियमसार में कहा गया है—‘इस जगत् में भिन्न-भिन्न प्रकार के व्यक्ति हैं और उनके भिन्न-भिन्न कर्म या गतिविधियाँ हैं और उनकी क्षमताएँ एवं योग्यताएँ भी भिन्न-भिन्न हैं, अतः प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि वह धर्म के क्षेत्र में होने वाले उग्र विवादों या धर्म के नाम पर निहित स्वार्थों की पूर्ति के लिए होने वाले आन्दोलनों में अपने-आपको संलिप्त नहीं करें।’<sup>१९</sup>

समदर्शी आचार्य हरिभद्र स्पष्ट रूप से कहते हैं—‘ऋषियों के उपदेशों में जो भिन्नता है, वह उपासकों की योग्यता में भिन्नता या उन ऋषियों के दृष्टिकोण में भिन्नता या देशकालगत आधार में भिन्नता पर आधारित है। जिस प्रकार से एक वैद्य अलग-अलग व्यक्तियों को उनकी प्रकृति की भिन्नता, अथवा रोग की भिन्नता के आधार पर भिन्न-भिन्न औषधि प्रदान करता है, यही बात धार्मिक उपदेशों की भिन्नता पर भी लागू होती है।’<sup>२०</sup> इस प्रकार साधकों या उपासकों में देश, काल, परिस्थिति, वैयक्तिक योग्यता और स्वभावगत विविधताएँ अपरिहार्य हैं, अतः इन विविधताओं के कारण होने वाले धार्मिक संघर्षों का निराकरण करने के लिए मानवीय समाज में एक उदार दृष्टिकोण और विभिन्न धर्मों के बीच सद्भाव विकसित करना आज की चरम आवश्यकता है। इस प्रकार जैनों का अनेकान्तवाद

का सिद्धान्त हमें मताग्रही और एकांगी विचारक होने से रोकता है। यह हमें एक व्यापक दृष्टिकोण और उदारतापूर्वक सोचने की शिक्षा देता है। यह विभिन्न धर्मों और विचारधाराओं के बीच होने वाली टकराहट की समस्याओं का समाधान करने के लिए अधिक आवश्यक है।

प्रो. टी.जी. कलघाटगी कहते हैं—‘अनेकान्तवाद की भावना सामाजिक-परिप्रेक्ष्य में अत्यधिक आवश्यक है, विशेषकर आज के समय में, जबकि आपस में टकराहट रखने वाली विचारधाराएँ आक्रमक शैली में अपने अतिश्रेष्ठ होने का दावा प्रस्तुत करने का प्रयास कर रही हैं। अनेकान्तवाद युक्तिसंगतता और सामाजिक सहिष्णुता की भावना का संदेश देता है।’<sup>३१</sup>

आज समाज में सहिष्णुता की भावना को प्रभावकारी तरीके से विकसित करने की आवश्यकता है। जैनधर्म अपने प्रारंभिक काल से ही सहिष्णुता अर्थात् अन्य धर्मों के प्रति आदरभाव का समर्थक रहा है। सूत्रकृतांग में महावीर उद्घोषित करते हैं—‘जो अपने धर्म और विचारधारा की प्रशंसा करते हैं और अपने विरोधियों के धर्म और विचारधारा को मिथ्या कहकर अस्वीकृत करते हैं, तो वे सत्य का अपलाप करन वाले जन्म और मृत्यु के चक्र में परिभ्रमण करते हैं।’<sup>३२</sup> जैन-दार्शनिक सदैव यह कहते हैं कि सभी विचारधाराएँ अपनी-अपनी दृष्टि से सत्य होती हैं, परन्तु जो दूसरों के विचारों या मतों को पूर्णतया नकारते हैं, वे मिथ्यावादी होते हैं।

इस प्रकार जैन-संत सदैव ही अन्य धर्मों के प्रति सहिष्णु रहे हैं और उन्होंने सदैव ही धर्मों के बीच टकराहट को टालने का प्रयास किया है। वर्तमान समाज की मूलभूत समस्याएँ मानसिक तनाव, हिंसा और विभिन्न धर्मों और विचारधाराओं के बीच टकराहट की है। जैनधर्म ने मानवजाति की इन समस्याओं का अपरिग्रह, अहिंसा और अनेकान्त के तीन मूलभूत सिद्धान्तों के माध्यम से समाधान करने का प्रयास किया है। यदि मानवजाति सामूहिक रूप से इन सिद्धान्तों का अनुसरण करती है, तो विश्व में शान्ति और सहिष्णुता स्थापित हो सकती है।

### सन्दर्भ

१. अहिंसा, द साइन्स ऑफ पीस, बोथरा सुरेन्द्र, फोरवर्ड, डी.आर. मेहता, पृ. २७
२. वही, पृ. ४६
३. द वायस ऑफ ह्यूमैनिटी, डेविड, सी.डब्ल्यू., पृ. १
४. आचारांग (आयारो), जैन विश्वभारती, लाडनूं, १/७/१४९
५. वही, २/४/९६

६. एनसाइक्लोपीडिया ऑफ रील्लिजन एण्ड ईथिक्स, वाल्यूम IX पृ. ७००
७. तत्त्वार्थसूत्र, उमास्वाति, ५/२१
८. द क्वेस्ट फॉर पीस, के. एस. मूर्ति, पृ. १५७
९. सूत्रकृतांग (सूयगडो), जैन विश्वभारती, लाडनू, १/११/३६
१०. आचारांग (आयारो), जैन विश्वभारती, लाडनू, १/८/३
११. भगवतीसूत्र (भगवत), जैन विश्वभारती, लाडनू, १/९
१२. सूत्रकृतांग (सूयगडो), जैन विश्वभारती, लाडनू, १/११/११
१३. उत्तराध्ययनसूत्र, सम्पादित-साध्वी चंदनाजी, ३२/१९
१४. वही, ३२/७-८
१५. दशवैकालिकसूत्र (दशवैआलियम), जैन विश्वभारती, लाडनू, ५/३७
१६. आचारांग (आयारो), जैन विश्वभारती, लाडनू, १/४/१
१७. प्रश्नव्याकरणसूत्र, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, २/१/२१
१८. तत्त्वार्थसूत्र, उमास्वाति, ५/२१
१९. आवश्यकवृत्ति, पृ. ६६१-६६२
२०. एन. एन्थोलॉजी, श्वेदजर, सम्पादित-सी.आर. ज्वाय, पृ. २४८-८३, कोटेड बाय, के.एस. मूर्ति, द क्वेस्ट फॉर पीस, पृ. ४२
२१. दशवैकालिकसूत्र, लाडनू, ६/१०
२२. द क्वेस्ट फॉर पीस, के.एस. मूर्ति, प्रोलाग पृ. XXI
२३. आचारांग (आयारो), जैन विश्वभारती, लाडनू, १/३/४
२४. स्टडीज इन फिलॉसफी, एन.एम. टाटिया, पी.वी. रिसर्च इन्स्टीट्यूट, वाराणसी, पृ. २२
२५. उत्तराध्ययनसूत्र, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, २३/२५
२६. लोकतत्त्वनिर्णय, हरिभद्र, जैनग्रन्थ प्रकाशन सभा, अहमदाबाद, गाथा-२४
२७. सन्मतिप्रकरण, सिद्धसेन, ज्ञानोदय ट्रस्ट, अहमदाबाद, १/२८
२८. अध्यात्मोपनिषद्, यशोविजयजी, जैनधर्म प्रकाशन सभा, भावनगर
२९. नियमसार, कुन्दकुन्द, द सेन्ट्रल जैन पब्लिशिंग हाऊस, लखनऊ, १५५
३०. योगदृष्टिसमुच्चय, हरिभद्र, एल.डी. इन्स्टीट्यूट, अहमदाबाद
३१. वैशाली इन्स्टीट्यूट रिसर्च, बुलेटिन नं. ४, पृ. ३१, १३३
३२. सूत्रकृतांग, (सूयगडो), जैन विश्वभारती, लाडनू, १/१२/२५

## सामाजिक क्रान्ति और जैन धर्म

डॉ. आनन्द कुमार शर्मा

[जैन धर्म पर प्रायः यह आरोप लगता रहा है कि निवृत्तिमार्गी धर्म होने के कारण यह समाज से विमुख होने का मार्ग बतलाता है इसलिये इसमें सामाजिक सरोकार का अभाव है। किन्तु जैन साहित्य के सम्यक् एवं निष्पक्ष अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि प्रारम्भ से ही जैन धर्म समाजोपयोगी सिद्धान्तों का न केवल पुरस्कर्ता रहा है अपितु समाज में उनके सम्यक् उपयोग और स्वस्थ समाज के विकास का मार्ग सुझाता रहा है। ऋषभदेव से लेकर महावीर तक सभी तीर्थंकरों ने सामाजिक समता को अपनी देशना का मुख्य आधार बनाया है।]

जैन धर्म देश के प्राचीनतम धर्मों में से एक है। जैन धर्म की प्राचीनता सैन्धव सभ्यता से मानी जाती है। कुछ विद्वानों का मानना है कि सैन्धव सभ्यता से प्राप्त वृषभ की मूर्तियाँ किसी न किसी रूप में 'ऋषभदेव की प्रतीक रही होंगी। ऋग्वेद में 'ऋषभ' शब्द का उल्लेख हुआ है।<sup>१</sup> यजुर्वेद में उल्लेख है कि 'ऋषभ धर्म-प्रवर्तकों में श्रेष्ठ हैं।' अथर्ववेद एवं गोपथ ब्राह्मण में उल्लेखित 'स्वयंभू काश्यप' का तादात्म्य 'ऋषभदेव' से किया जाता है।<sup>२</sup> श्रीमद्भागवत में 'ऋषभदेव' का उल्लेख हुआ है।<sup>३</sup> जैन धर्म ने अपने सामाजिक विचारों एवं मूल्यों से तत्कालीन समाज में दबे-कुचले एवं पिछड़े व्यक्तियों को संबल प्रदान किया। जैन धर्म ने अपने सशक्त साहित्यिक एवं वैचारिक वाङ्मय से समाज में समानता का संदेश दिया जिससे समाज के उत्थान का मार्ग प्रशस्त हुआ। जैन धर्म ने अपनी सैद्धान्तिक विचारधारा से धरातल पर सामाजिक क्रान्ति का सूत्रपात किया जो इस प्रकार है—

### समाजवाद की अवधारणा

जैन धर्म के सम्पूर्ण वैचारिक वाङ्मय एवं व्यावहारिक धरातलीय दृष्टिकोण के अध्ययन से विदित होता है कि इसमें समाजवाद की विचारधारा के बीज निहित थे। जैन धर्म के सिद्धान्त सम्पूर्ण मानवमात्र के हित एवं समानता का संदेश देते हैं। जैन मनीषियों का व्यवहार भी सैद्धान्तिक विचारधारा से मेल खाता

\* बालाजी विहार कालोनी, गुडीगुडा का नाका, लशकर, ग्वालियर-१

है। उन्होंने मनुष्यों को सात्त्विक जीवन जीने का संदेश दिया। जिसका समाज पर दूरगामी प्रभाव होना निश्चित था। सात्त्विकता, मनुष्य के जीवन को सरल, निर्विकार, चरित्र सम्पन्न और नैतिकतावादी बनाता है। यह संदेश ऐसे समय आया जब समाज नैतिक रूप से पतित होता जा रहा था, मनुष्यों का जीवन जटिल, अव्यावहारिक व्यवस्थाओं में जकड़ा हुआ था। भारतवर्ष का विशाल जन समूह आर्थिक विपन्नता के बोझ के नीचे दबा था। समाज में ऊँच-नीच, अमीरी-गरीबी का भाव विद्यमान था और इस कारण समाज का बहुत बड़ा तबका आर्थिक एवं सामाजिक अधिकार विहीन था। ऐसे समय में जैन धर्म ने अपरिग्रह एवं सम्यक् आचरण का सन्देश दिया। इसमें आर्थिक समानता एवं सर्वोदय की समाजवादी विचारधारा निहित थी। अपरिग्रह अर्थात् उतना ही संग्रह करो, जितना आवश्यक हो। इससे समाज के सभी लोगों को वस्तुएँ मिल सकेंगी। अपरिग्रह आवश्यकताओं के अनन्त फैलाव पर तार्किक रोक का सन्देश देता है। इससे इच्छाओं पर नियंत्रण होता है और समाज में असामाजिकता एवं असन्तुलन की स्थिति पर लगाम लगती है।<sup>५</sup>

जैन धर्म समानता का सन्देश देता है। जैन धर्म ने समाज में ऊँच-नीच, अमीर-गरीब, जाति-पांति, स्त्री-पुरुष सभी को एक निगाह से देखा। महावीर स्वामी ने संघ में सभी का स्वागत किया एवं उन्हें मान्यता प्रदान की।<sup>६</sup> जैन संघों एवं जैन धर्म के अनुयायियों ने अनेक समाज-हितैषी कार्य किये जिनसे समाज के प्रत्येक वर्गों मुख्यतः दलित एवं निर्धनों को अत्यधिक लाभ हुआ। जैन धर्मावलम्बियों ने औषधालय, विश्रामालयों, शिक्षण-संस्थाओं आदि की निःशुल्क व्यवस्था की जिससे निर्धनों एवं निचले तबके के लोगों के प्रति दयाभाव, अनुग्रह एवं दान भावना की प्रवृत्ति बढ़ी।

### नारी की स्थिति में क्रान्तिकारी बदलावों का सूत्रपात

भारतीय संस्कृति में स्त्री को सर्वशक्ति-सम्पन्नता एवं सर्वगुण-सम्पन्नता के प्रतीक के रूप में आख्यायित किया गया है। उसको पुरुष की पूर्णता के लिए आवश्यक माना गया। उसके जीवन में स्त्री का आगमन शुभ एवं सुख-समृद्धि तथा सम्मान का प्रतीक माना गया है।<sup>६</sup> जैन धर्म में नारी को सामाजिक तथा धार्मिक कार्यों को करने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी। जैन धर्म ने पर्दा-प्रथा, सती-प्रथा, बाल-विवाह, बालिका-हत्या, अशिक्षा आदि बुराइयों एवं कुरीतियों से दूर रहकर पुरुषों की तरह स्त्रियों को भी अपने विकास की पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान की। वह अपनी इच्छानुसार व्रत, दान आदि कर सकती थीं। उसे समाज एवं घर-

परिवार में सम्मानजनक स्थान प्राप्त था। जैन कला में भी नारी देवी, यक्षी, आर्यिका, श्राविका, साध्वी आदि रूपों में अंकित है, जो नारी के महत्त्व की समाज में प्रधान स्थिति को इंगित करता है। महावीर स्वामी ने नारी को 'धम्म-सहाया' कहकर धर्म की सहायिका मानकर आदर और सम्मान प्रदान किया। वे स्त्री-समाज के समानाधिकार के पूर्ण पक्षपाती थे। महावीर स्वामी ने उन्हें मोक्षाधिकार भी प्रदान किया। उन्होंने स्त्रियों के लिए संघ के द्वार खोल दिये। जैन धर्म में श्रमणी और श्राविका ये दो वर्ग नारियों के ही थे। भद्रबाहु कृत कल्पसूत्र में वर्णित है कि पार्श्वनाथ के अनुयायी भिक्षु १६,०००, भिक्षुणियाँ ३८,०००, श्रावक १,६४,००० तथा श्राविकायें ३,२७,००० थीं।<sup>१०</sup> अतः स्पष्ट है कि पार्श्वनाथ के अनुयायियों में स्त्रियों की संख्या सर्वाधिक थी। महावीर स्वामी के जैन संघ में ३६,००० श्रमणियाँ, १४,००० श्रमण, १,५९,००० श्रावक एवं ३,१८,००० श्राविकाएँ थीं।<sup>११</sup> अतः जैन संघ में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की संख्या अधिक थी। वास्तव में स्त्रियों को भिक्षुणियों के रूप में स्वीकार करना एक क्रान्तिकारी कदम था।

### वर्ण-निरपेक्ष आन्दोलन का सूत्रपात

जैन धर्म ने सर्वप्रथम वर्ण-व्यवस्था की बुराइयों पर गंभीर चिंताएँ प्रगट करते हुए जाति-बंधन एवं जाति-भेद की भर्त्सना की।<sup>१२</sup> महावीर स्वामी के समय प्राचीन अन्धविश्वासों, कर्मकाण्डों और वर्ण-व्यवस्था की विशाल दीवारें जर्जरित हो रही थीं, प्रबल गवेषणा, सत्यानुसंधान एवं रहस्योद्घाटन की दुर्धर्ष उत्कण्ठा के इस काल में उन्होंने समाज को सन्मार्ग दिखाया।<sup>१३</sup> महावीर स्वामी के अनुसार सभी व्यक्ति चाहे वे किसी भी जाति या धर्म के हों पुरुषार्थ द्वारा निर्वाण अर्थात् सर्वोच्च पद प्राप्त कर सकते हैं, अतः निर्वाण प्राप्ति हेतु उन्होंने जाति-भेद को समाप्त कर दिया। सूत्रकृतांग में जात्याभिमान को १८ पापों में एक पाप माना गया है।<sup>१४</sup> महावीर स्वामी ने निर्वाण-प्राप्ति की योग्यता का वर्णन करते हुए कहा है—

“जो न अभिमानी है और न दीनवृत्ति वाला है, जिसकी पूजा-प्रशंसा में उन्नत भाव नहीं है, और न निन्दा में अवनत भाव है, वह ऋजुभाव को प्राप्त संयमी महर्षि पापों से विरत होकर निर्वाण मार्ग को प्राप्त करता है।”<sup>१५</sup> अतः जैन संघ ने जाति भेद को परे रखकर एवं समानाधिकार प्रदान कर समस्त जातियों के लिए प्रव्रज्या के द्वार खोल दिये।<sup>१६</sup> महावीर स्वामी ने समाज में कर्म की प्रधानता को बतलाया। उन्होंने मनुष्य को ईश्वरीय हस्तक्षेप से मुक्त करके स्वयं अपना

भाग्य-विधाता माना और अपने सांसारिक एवं आध्यात्मिक जीवन में मनुष्य को उसके प्रत्येक कर्म के लिए उत्तरदायी बताया।<sup>१४</sup> वास्तव में जैन धर्म एवं जैन संघ ने जनसाधारण की बड़ी सावधानी से सेवा की<sup>१५</sup> जैन धर्म ने समाज के उत्पीड़ित वर्गों को अत्यधिक प्रभावित किया। वैश्यों को भी जो आर्थिक दृष्टि से शक्तिशाली थे परन्तु जिन्हें तदनुरूप सामाजिक मान्यता प्राप्त नहीं थी और शूद्रों को जो स्पष्ट रूप से दलित और सताए हुए थे, को इस वर्ण-निरपेक्ष सम्प्रदाय में सम्मिलित होकर अपने वर्ण से उबरने का अवसर दिया। इस प्रकार जैन मत वर्ण व्यवस्था का विरोधी था और इस दृष्टि से इसे वर्ण-निरपेक्ष आन्दोलन कहा जा सकता है।<sup>१६</sup>

### व्यापार-वाणिज्य एवं नगर-संस्कृति के प्रसार में भूमिका

जैन धर्म ने अपने सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक ढाँचे से व्यापार-वाणिज्य एवं नगर-संस्कृति के विकास एवं प्रसार में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। जैन धर्म व्यावहारिक शुचिता तथा मितव्ययिता के व्यवसायोचित गुणों को प्रोत्साहित करता था।<sup>१७</sup> 'जीवों की हिंसा कम से कम हो' इसे ध्यान में रखकर जैन धर्मावलम्बियों ने मुख्यतः व्यापार को अपनी आजीविका का साधन बनाया।<sup>१८</sup> इससे प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से कला, कलात्मक शिल्पों को प्रोत्साहन मिला तथा नवीन व्यावसायिक तत्त्वों का उदय हुआ। यह धर्म अल्प संचय तथा मितव्ययिता को प्रोत्साहन देता है। पश्चिमी तट पर समुद्री व्यापार होता था, जहाँ जैनियों ने साहूकारी का धंधा शुरू किया जिससे दूसरे लोग पण्य-वस्तुओं के साथ समुद्र-पार यात्रा पर जाने लगे।<sup>१९</sup> जैनियों की वाणिज्यवृत्ति से न केवल नगर-संस्कृति का विकास हुआ! अपितु राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भारतीय व्यापार और वाणिज्य को गतिशीलता मिली।

### कर्म की श्रेष्ठता की समाज में स्थापना

जैन धर्म का कर्म सिद्धान्त मनुष्य की उत्पत्ति में ईश्वरीय हस्तक्षेप को खारिज करते हुए, उसे स्वयं के भाग्य का विधाता मानता है। अपने सांसारिक एवं आध्यात्मिक जीवन में मनुष्य अपने प्रत्येक कर्म के लिए उत्तरदायी है।<sup>२०</sup> अतः मनुष्य स्वयं अपने कर्मों की कृति है। महावीर स्वामी ने कहा 'कर्म से ही मनुष्य ब्राह्मण या शूद्र होता है।'<sup>२१</sup> उस समय भारतीय समाज का बहुसंख्यक वर्ग पद-दलित था और युग-युग से ईश्वर के नाम पर प्रताड़ित किया जा रहा था। जैन धर्म ने उन्हें नवीन मार्ग दिखाया और उन्हें बताया कि उनकी दलित स्थिति के लिए ईश्वर जिम्मेदार नहीं है अपितु वे स्वयं जिम्मेदार हैं, उन्हें अच्छे कर्म के पथ पर अग्रसर

होने की सलाह दी और बताया कि सम्यक् कर्म से वे श्रेष्ठ स्थिति को प्राप्त कर सकते हैं। समाज के बहुसंख्यक कमजोर, पद-दलित, अधिकार-विहीन मनुष्यों के अन्दर कर्म के सिद्धान्तों ने जबरदस्त आत्मविश्वास का संचार किया।

इस प्रकार जैन धर्म ने अपने आध्यात्मिक मूल्यों के साथ सामाजिक मूल्यों की स्थापना करके तत्कालीन समाज में समाजवाद की विचारधारा को स्थापित किया। स्त्रियों की स्थिति में क्रान्तिकारी बदलाव किया। वर्ण-निरपेक्ष आन्दोलन का सूत्रपात किया। व्यापार-वाणिज्य एवं नगर-संस्कृति के विकास एवं प्रसार में योगदान किया। ईश्वरीय हस्तक्षेप का निषेध कर कर्म की विशेषता को समाज में स्थापित कर धार्मिक अन्धविश्वासों तथा हिंसा प्रधान बाह्य धार्मिक क्रियाओं का निषेध करके विवेकपूर्वक धार्मिक आचरण करने की सलाह दी। संयमी, वीतरागी, अपरिग्रही, अनेकान्तदृष्टि से जीने की राह बतलाई। यही जैन धर्म की सामाजिक क्रान्ति है। आज इस वैज्ञानिक युग में भी उन्हीं सामाजिक मूल्यों को महत्त्व दिया जा रहा है जिन्हें भगवान् महावीर ने आज से २५०० वर्ष पूर्व बतलाया था।

### सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

१. ऋग्वेद, १०.१६६.१
२. अथर्ववेद, ११.५.२४-२६, गोपथ ब्राह्मण, २.८
३. श्रीमद्भागवत, ५.२८
४. विस्तृत अध्ययन के लिए पढ़ें, बाशम, ए.एल. (सम्पादन), ए कल्चरल हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, १९७५, पृ. १००-११०, पाण्डेय, वी.सी.- प्राचीन भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, भाग-१, सेन्ट्रल पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, १९९८, पृ. २६१, २६२, २७८, २८२, २८३, शर्मा, आर.एस. प्राचीन भारत का इतिहास, एनसीईआरटी, नई दिल्ली, १९९०, पृ. ९७, पांडे, विशम्भरनाथ- भारत और मानव संस्कृति, खण्ड-१, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली, १९९६, पृ. १००-१२५
५. सूत्रकृतांग, २.१.३५
६. विस्तृत अध्ययन के लिए पढ़ें, शर्मा, डॉ. आनन्द कुमार, प्राचीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति में स्त्रियों की स्थिति (गुप्त-वर्धन काल तक), शोध-समवेत, श्री कावेरी शोध संस्थान, उज्जैन, वो. १६, नं. ०२, जुलाई-सितम्बर, २००७, पृ. १४७-१५१
७. मिश्र, जयशंकर-प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, २००१, पृ. ७७६
८. कल्पसूत्र, १३४-३७, आवश्यक निर्युक्ति, गा. २५९, २६३

९. शर्मा, आर.एस., पूर्वोक्त, पृ. ९८, मजूमदार, आर. सी., प्राचीन भारत, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, १९७३, पृ. १४२-४३, झा. श्रीमाली-प्राचीन भारत, हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, नई दिल्ली, २००१, पृ. १४३
१०. पाण्डेय, वी.सी.-पूर्वोक्त, पृ. २५४
११. पाण्डेय, वी.सी.-पूर्वोक्त, पृ. २८१
१२. उत्तराध्ययन, २१.२०
१३. सूत्रकृतांग, २.१.३५
१४. सूत्रकृतांग (जैकोबी-जैन सूत्र, जिल्द २, पृ. ३०१-०४), उद्धृत पाण्डेय, वी.सी.-पूर्वोक्त, पृ. २७७
१५. बाशम, ए.एल.-अद्भुत भारत, शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, आगरा, पृ. २११
१६. थापर, रोमिला- भारत का इतिहास (प्राचीन भारत), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, १९८९, पृ. ५९-६०
१७. बाशम, ए.एल.-अद्भुत भारत, पृ. २११
१८. शर्मा, आर.एस.- पूर्वोक्त, पृ. ९७
१९. थापर, रोमिला- पूर्वोक्त, पृ. ५७-५८
२०. सूत्रकृतांग (जैकोबी- जैन सूत्र, जिल्द २, पृ. ३०१), उद्धृत पाण्डेय, वी.सी.- पूर्वोक्त, पृ. २७७, बाशम, ए.एल. (सम्पादन)- ए कल्चरल हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ. १०१, मजूमदार, आर.सी.-पूर्वोक्त, पृ. १४२-४३, पांडे, बिशम्बरनाथ-पूर्वोक्त, पृ. ८६
२१. उत्तराध्ययन, २५.३३



## तीर्थकरकालीन श्रमणियों पर एक विचार दृष्टि

-श्रमणी डॉ. विजयश्री आर्या

[ जैन ग्रन्थों में हमें सदाचार एवं पतिव्रत धारण करने वाली स्त्रियों के पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं। इनके सम्बन्ध में कहा गया है कि ये स्त्रियां ही तीर्थङ्करों को जन्म देने वाली हैं तथा ये मातृरक्षिता, पितृरक्षिता, भ्रातृरक्षिता, कुलगृहरक्षिता एवं श्वसुरकुलरक्षिता आदि हैं। धर्म के क्षेत्र में दीक्षित साध्वियों को उपलब्ध इतिहास की पृष्ठभूमि में देखें तो जहां महावीर के श्रमण संघ में १४,००० साधुओं का उल्लेख मिलता है वहीं ३६,००० साध्वियों का भी उल्लेख मिलता है किन्तु इतिहास के पन्नों पर इनके नामो-निशां को खोजने का प्रयास करें तो कुछ प्रकीर्ण सन्दर्भों को छोड़ कर प्रायः निराशा ही हाथ लगती है। प्रस्तुत लेख में ऐसी ही त्याग की प्रतिमूर्ति साध्वियों के चरण-चिह्नों को जैन इतिहास और आगमों की पगडंडियों पर खोजने का प्रयास कर रही हैं- साध्वीवर्या डॉ. विजयश्री आर्या। ]

जैन आगम साहित्य का अवलोकन करने पर यह तथ्य स्पष्ट होता है कि भगवान् ऋषभदेव से लेकर महावीर तक के प्रत्येक तीर्थकर के काल में श्रमणियों की संख्या हजारों या लाखों में थी। यदि सभी आचार्यों, श्रुतधरों और तीर्थकरों के कालों की सभी श्रमणियों की संख्या को सम्मिलित किया जाये तो गणनातीत संख्या में श्रमणियां हो चुकी हैं। किन्तु खेद है कि संयम और त्याग की साक्षात् मूर्ति भगवती स्वरूप इन श्रमणियों का सम्पूर्ण इतिहास अतीत की गोद में विलुप्त हो कर रह गया है। उनका नाम तक आज उपलब्ध नहीं है। २३ तीर्थकरों के शासन काल के साक्षी अन्तिम तीर्थकर भगवान् महावीर ने उन अज्ञात श्रमणियों में से कितनों को शब्दायित किया है, यह प्रयत्न पूर्वक खोजने पर भी नहीं मिलता। वर्तमान आगम साहित्य और प्राचीन ग्रंथों में तीर्थकरों की प्रमुखा श्रमणियों के नाम और शेष श्रमणियों की मात्र संख्या ही उपलब्ध होती है। प्रमुखा श्रमणियों में प्रथम तीर्थकर की शिष्या ब्राह्मी-सुन्दरी तथा अन्तिम तीर्थकर महावीर की प्रमुखा शिष्या चन्दनबाला का यत्किंचित् वृत्तान्त उपलब्ध होता है। शेष श्रमणियां जो तीर्थकरों के विशाल श्रमणी संस्था की संवाहिका रहीं, उनका वृत्तान्त न मिलना एक दुर्भाग्यपूर्ण घटना है। यद्यपि बीसवें तीर्थकर मुनिसुव्रत एवं बाईसवें तीर्थकर अरिष्टनेमि के समय की कुछ अन्य श्रमणियां के भी वृत्तान्त हैं, जिन्होंने जीवन के चतुर्थ भाग में श्रमणी दीक्षा अंगीकार कर ली थी। सीता, मन्दोदरी, कैकेयी

आदि तथा पद्मावती, सत्यभामा, रुक्मिणी आदि के दीक्षा लेने आदि का वर्णन विस्तार से उपलब्ध होता है, किन्तु वहां भी श्रमणी प्रमुखा के जीवन-वृत्त के विषय में शास्त्रकार मौन हैं। इससे यह ध्वनित होता है और बहुत सम्भव है कि राम और कृष्ण को हिन्दुओं में अवतार के रूप में मान्य होने के कारण जैन साहित्य में भी उनका विशिष्ट रूप वर्णन हुआ हो तथा उनके साथ रामायण तथा महाभारतकालीन नारियों को भी विशेष महत्त्व मिला हो। यहां एक बात उल्लेखनीय है कि रामायण काल की जितनी भी महिलाओं के श्रमणी जीवन अपनाने का वर्णन मिलता है, वे प्रायः राम या रघुवंश से सम्बन्धित हैं। मन्दोदरी का सम्बन्ध रावण से है वह भी राम के कारण ही है। उधर अरिष्टनेमि के काल की जितनी श्रमणियों के जीवन-वृत्त उपलब्ध होते हैं, उन सबका सम्बन्ध 'कृष्ण' के साथ है, प्रायः वे सभी यदुवंश की नारियां थीं।

इसी सन्दर्भ में जब हम तीर्थकर पार्श्वनाथ के काल का अवलोकन करते हैं तो पाते हैं कि वहां भी श्रमणी प्रमुखा पुष्पचूला का सामान्य वर्णन भी उपलब्ध नहीं होता और दूसरी ओर तीर्थकर पार्श्वयुग की २६ श्रमणियों के उल्लेख हैं जिनका श्रमणी रूप कम शिथिलाचारी रूप अधिक प्रकट हुआ है। उनके नाम, माता-पिता, पति एवं जन्म स्थान आदि नामों के साथ वे मृत्यु प्राप्त कर कहां उत्पन्न हुईं, भविष्य में कहां जायेंगी, उन सबका विस्तृत वर्णन ज्ञाताधर्मसूत्र और पुष्पचूलिका सूत्र में प्राप्त होता है। अतः तीर्थकर पार्श्व के काल में पुष्पचूला और सुव्रता के अलावा अन्य किसी ऐसी श्रमणी का उल्लेख नहीं मिलता जिसका श्रमणी जीवन विशिष्टता सम्पन्न हो। तीर्थकर अरिष्टनेमि और पार्श्वनाथ के समय में ८४ हजार ६५० वर्षों का सुदीर्घ अन्तराल होने पर भी अरिष्टनेमि काल की १९ साध्वियों का जीवन-वृत्त और पार्श्वनाथ काल की दो श्रमणियों का उल्लेख मिलना एक विचारणीय प्रश्न छोड़ जाता है।

चौबीस तीर्थकरों की प्रसिद्ध-अप्रसिद्ध, परिचयप्राप्त या नामप्राप्त ३१७ श्रमणियों का वर्णन क्रमशः इस प्रकार मिलता है-

तीर्थकर काल की ३१७ श्रमणियां-

प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव के समय की तीन साध्वियां-ब्राह्मी, सुन्दरी, सुलोचना।  
द्वितीय तीर्थकर अजितनाथ के समय की तीन साध्वियां- फल्गु, विपुला, सुलक्षणा।  
बारहवें तीर्थकर वासुपूज्य के समय की चार साध्वियां- धारिणी, रोहिणी, मनोहारी और मेघमाला (शिथिलाचारिणी)।

बीसवें तीर्थकर काल की श्वेताम्बर-दिगम्बर परम्परा की सम्मिलित १४ श्रमणियां- पुष्पवती, पुरन्दरयशा, मंदोदरी, चन्द्रनखा, कैकेयी, सीता, अंजना, मनोदया, गणिनी

अनुद्धरा, गणिनी वरधर्मा, गणिनी बंधुमति, गणिनी श्रीमती, गणिनी शशिकान्ता, प्रवर्तिनी चरणश्री।

बाईसवें तीर्थकर अरिष्टनेमि के काल की १९ श्रमणियां-

यक्षिणी, राजीमती, शिवा, द्रौपदी, सत्यभामा, रुक्मिणी, पद्मावती, गौरी, गांधारी, सुसीमा, लक्ष्मणा, जाम्बवती, मूलश्री, मूलदत्ता, कनकवती, केतुमंजरी, एकनाशा, कमलामेला और सुव्रता।

तेईसवें तीर्थकर पार्श्वनाथ की प्रमुख श्रमणियां- पुष्पचूला, सुव्रता। शेष ज्ञाताधर्म एवं पुष्पचूलिका में प्राप्त २१६ श्रमणियां तथा आवश्यकनिर्युक्ति में प्राप्त पाण्डुरार्या आदि कुल २१७ श्रमणियां (शिथिलाचारी) ।

चौबीसवें तीर्थकर महावीर के काल की ३५ श्रमणियां- चंदनबाला, देवानंदा, प्रियदर्शना, पद्मावती, प्रभावती, मृगावती, शिवानंदा, अंगारवती, मदनमंजरी, ज्येष्ठा, जयन्ती, नंदा आदि श्रेणिक की १३ एवं २३ महारानियां एवं दुर्गन्धा आदि कुल ३५ श्रमणियों का वर्णन प्राप्त होता है।

शेष १७ तीर्थकरों की एक-एक प्रमुखा श्रमणी को परिगणित कर लें तो चौबीस तीर्थकरों की कुल ३१७ श्रमणियों के उल्लेख आगम एवं आगमिक व्याख्याओं में प्राप्त होते हैं। बारहवें तीर्थकर की साध्वी मेघमाला एवं पार्श्व तीर्थकर की २१६ श्रमणियां तथा एक पाण्डुरार्या ये २१८ श्रमणियां शिथिलाचारी के रूप में प्रसिद्ध हुईं। कुछ अनंग सुन्दरी जैसे- मदनरेखा आदि साध्वियां पार्श्व एवं महावीर के काल में किसी समय हुई थीं ऐसा उल्लेख मिलता है।

इनमें विशिष्ट श्रमणियां तो मात्र ९९ ही हैं, शेष शिथिलाचारी की श्रेणी में आती हैं। इन ९९ श्रमणियों में लगभग ६५ श्रमणियों के अल्पाधिक जीवनवृत्त प्राप्त होते हैं, शेष के वह भी नहीं। जहां तीर्थकरकाल की सम्पूर्ण साध्वियों की संख्या अड़तालीस लाख आठ सौ सत्तर हजार आंकी गयी (कहीं-कहीं चौरासी लाख चार सौ पच्चीस हजार) है, उनमें मुट्ठी भर श्रमणियों के उल्लेखों से यह समझा जा सकता है कि हमारा इतिहास कहां तक कालकवलित हो गया है। आवश्यकता है कि जो कुछ शेष बचा है, उसे प्राचीन भण्डारों से निकलवा कर उनका सर्वेक्षण करवाया जाय ताकि इतिहास में उन साध्वियों की मौजूदगी के साथ न्याय हो सके।

सन्दर्भ-ग्रन्थः

१. जैन धर्म का मौलिक इतिहास, आचार्य हस्तीमलजी
२. आवश्यक निर्युक्ति, भद्रबाहु, हर्ष पुष्पामृत जैन ग्रन्थमाला
३. बड़ी साधु वन्दना, आचार्य जयमल जी महाराज

## CONTRIBUTION OF ĀCĀRYA MAHĀPRAJÑA TO THE WORLD OF PHILOSOPHY

Samani Dr. Shashiprajna\*

*[Late Ācārya Mahāprajña was a great saint, thinker, philosopher and scholar of Jainism. Through some of his novel concepts he enriched the Jaina Philosophy and gave insight for social transformation. He looked at theory of Śaḍjīvanikāya, Karmavāda and morality in non-traditional way and introduced few newer ideas to make Jaina philosophy compatible with the modern empirical world philosophy. In this paper the author underlines the novel contributions of Ācārya Mahāprajña in the field of Jaina philosophy.]*

### Introduction:

The study of philosophy is the continuous process of quest for truth. In this non-stopping journey of development of thoughts great philosophers contributed a lot by their novel thoughts and enriched the world of philosophy. In this paper, efforts will be made to highlight the philosophical thoughts envisaged by the 21<sup>st</sup> century's great philosopher Ācārya Mahāprajña. Mahāprajña's independent, innovative thoughts regarding the concept of Jaina theory of causation and concept of creation can be considered as the metaphysical contribution. The concept of Śaḍjīvanikāya and self development, the concept of moral responsibility, *karmavāda* and *puruṣārthavāda*, etc. give us a clear notion of *karma* philosophy and its social relevance in the era of Science and Technology. Moreover his ideas regarding the Jaina Ethical code of conduct and criteria of morality are really touching points and can brain-wash the misconceptions regarding the Jaina ethical concepts that they are not

\* Professor, Jain Philosophy, Jaina Vishva Bharati, Ladnun

social. But Mahāprajña's revolutionary views can open new horizons in the world of Jaina philosophy.

### **The theory of Causation**

The concept of causation is the basic foundation of each and every philosophy. Jaina philosophy is basically based on the theory of *anekānta*. So there is a kind of misconception among the Eastern and Western scholars that there is no room for an absolute truth in Jaina philosophy and all the truths are relative. It was Mahāprajña who expounded that there are two types of truth as per the theory of *anekānta* i.e. *sāpekṣa* and *nirapekṣa* i.e. relative and absolute.<sup>1</sup> Moreover, he established that *pañcāstikāya*, (medium of motion, medium of rest, space, soul and matter-five substances) *kāla* (time) *loka-aloka* (universe and contra universe) are absolute truth, where cause and effect theory can't be applied. In case of relative truths only, one can trace its cause and effect.<sup>2</sup>

He further extends his view in this manner that Jains believe in the principle of *pāriṇāmika-bhāva*, which can be classified under two heads as *anādi-pāriṇāmika* and *sādi-pāriṇāmika* i.e. change which has no beginning and change with beginning respectively. *Pañcāstikāya* come under the head of *anādi-pāriṇāmika* which are eternal i.e. change without a beginning or an end. But simultaneously, they are constantly evolving and taking different forms. It just exists there without any cause since infinity and remains so forever. Where as, *sādi-pāriṇāmika* case can be explained through cause and effect theory. For example a house was built. It has its beginning. So in such instances of change which has beginning (*sādi-pāriṇāmika*) we can search relative truth as its material cause and efficient cause as invisible.<sup>3</sup>

### **The World and its Creator**

Since time immemorial, the philosophers and the scientists of different schools and streams have tried their best to unfold this mystery, "who created this world? Why? When? and How!- these questions have been asked from time to time again and again.

There is a wide difference of opinion among the philosopher

about the concept of creation. If we subscribe to the view that world is a creation then creator has to be somebody different than the world. A question would then be asked- "From where he come and is there another world?" If god is accepted as the creator of this world, then question may be raised as to what are the basic attributes of God through which, he created the world. If the creator is regarded to be an embodiment of pure consciousness, why his creation should have both the characteristics i.e., sentience as well as insentience? How comes this dichotomy? Another vital question would surface then. In order to make something, the creator has to collect some raw material. Did that come from this world or from some other world. Similarly, if we believe that the world is made out of God's own properties, then it is not a new creation but only an extension or new modification of the original stuff.

The Jaina philosophers didn't wish to tread this futile path in imagining such questions and trying to answer them. They maintained that the world is not a creation by any body like God. It just exists there since infinity and would remain so, forever. There are different notions regarding the creation. In the words of Mahāprajña, creation is nothing but the combination of *anādi* and *sādi-pariṇamana*<sup>4</sup> i.e. it is composed of five fundamental substances which occurs due to combination of *Jīva* and *puḍgala*. Ācārya Tulsi also in his text, '*Illuminator of Jaina Tenets*' rightly defined creation as '*Jīvapudgalavorvividha samyogaiḥ saḥ vividharūpaḥ*'.

In fact, *Jagat* is nothing but mixed product of *Jīva* (the soul) and *puḍgala* (matter), we don't see either of them in its original form, as it is imperceptible. But that doesn't mean that what we don't see is not *Jagat* (creation).<sup>5</sup> So according to Mahāprajña for creation there is no need to accept God.

### **The Concept of Śaḍjīvanikāya and Self-development**

According to Jaina philosophy, the theory of rebirth is nothing but the theory of transmigration between four realms namely celestial, human, animal and infernal. The concept of *Śaḍjīvanikāya* (classification of six beings) is the upshot of the theory of rebirth. Mahāprajña says, soul exists, soul is eternal and karmic bondage-

these three concepts of Jaina ethics are sufficient to prove the theory of rebirth.<sup>6</sup>

In no other school of Eastern or Western philosophy we find such a subtle classification of *Jīvas* from one-sensed to five-sensed-beings. Siddhasena rightly commented that for proving the omniscience of Tīrthaṅkara Mahāvīra, only *Ṣaḍjīvanikāya* concept is more than sufficient.<sup>7</sup>

The point of consideration here is that Mahāprajña says, we don't find such a successive development of consciousness on the basis of the sequence of one to five sense organs namely touch, taste, smell, colour and sound in other schools of philosophy.<sup>8</sup> He says the development of consciousness begins from the sense of touch and reaches up to the level of five sense organs accompanied by mind. Ācārya Mahāprajña believes that the one who doesn't understand the real existence of *Ṣaḍjīvanikāya*, can't understand how to give an end to the unending chain of rebirth and attain the spiritual heights.<sup>9</sup> So this concept of *Ṣaḍjīvanikāya* must be understood for the attainment of liberation.

### **Ātmakartṛtvavāda and the concept of Moral Responsibility**

Jains believe in *nityānityātmaka* nature of soul. Soul never loses its real nature of *caitanya* (Consciousness) so it is *nitya* (eternal) but at the same time it keeps on changing every moment to keep its existence. If for a moment soul gives up *pariṇamana* i.e. if *svābhāvika* change is stopped, then there will be no more existence of soul. To maintain the existence of soul, *svābhāvika kartṛtva* of soul i.e. *pariṇamana* (change) must be accepted. If the soul transmigrates from human realm to the animal kingdom, or hell or heaven, then such *pariṇamana* is considered as *vaibhāvika kartṛtva*.<sup>10</sup>

Ācārya Śrī asserts that this concept of *kartṛtva* has shown the concept of *sāadhanā* that nobody can give either pain or pleasure to any body in this world. This kind of novel idea gave rise to the concept of *ātmakartṛtvavāda* which means soul can't endorse any soul of blame on others for one's own deeds and misdeeds but soul himself is responsible for one's own pleasure and sorrow.<sup>11</sup> It seems

to be human psychology that one wants to take honour of everything good but disowns anything wrong or evil. It means that for good, you are responsible, but for bad, you throw the responsibility on others. According to Jainism, your soul is responsible for both good and evil. One cannot impose the responsibility on anyone else not even on God. This is the gist of Jaina doctrine of *ātmakarṭṛtvavāda*.

This doctrine helps us to develop a new avenue of our own consciousness, and that is to refrain from accusing others and confess one's own responsibility for doing anything wrong or considering one's own Self responsible for suffering or pain instead of accusing others. This is novel contribution of the Mahāprajña to mould the attitude of the person who imposes the cause of suffering on other.

### **Karmavāda and Puruṣārthavāda**

Jaina Ethical philosophy is based upon the theory of *karma*. Jaina philosophy doesn't accept that notion of God who rewards or punishes one according to fruition of auspicious *karmas* and inauspicious *karmas* respectively. The world is governed by natural laws, so there is no need to accept any God. In favour of God many logics are given as out of compassion God created this world. Some say, God was alone, he wanted to be many (*tadaikṣat bahusyām*), so the world came into being. Mahāprajña has given a reasonable logic in favour of the Jaina theory of *karma*. He says that the primary basis of acceptance of theory of *karma* is freedom of will. Secondly, the moral responsibility of each and every action is on the individual itself. Thirdly, every individual has the right to progress and change his destiny.<sup>12</sup>

He says, if one claims that everything happens according to the theory of *karma* in Jaina philosophy, then there will be no difference between the *Īśvaravāda* i.e. theism and *karmavāda* i.e. theory of *karma*. But Ācārya Mahāprajña emphasizes that the theory of *karma* is the theory of *puruṣārtha* i.e. effort. One can't differentiate the two as they are twins found always together.<sup>13</sup> One can change one's *karma* through efforts. In canonical text we get two types of *karmas* i.e. *dalika karma* and *nikācita karma*. *Dalika karmas*

are those *karmas*, which can be changed. *Nikācita karma* are those *karmas* which can never be changed.<sup>14</sup> Here we are helpless. So other philosophers considered that we can't change the *karmas* once bound. But Ācārya Mahāprajña asserts that at maximum level, *karmas* are changeable. The area of unchangeable *karmas* are very much least in number. Therefore on the basis least unchangeable *karmas*, we shouldn't accept that we can't change our *karmas* and future.<sup>15</sup>

Moreover, Mahāprajña says it should be crystal clear in everybody's mind that from the point of view of the raise of *nikācita karma*, soul is under the pressure of dependence of *karma*. From the point of view of *dalika karma*, there are two possibilities-where ever soul tries to change one's *karma* through the observation of vows, penance and practice of meditation, patience, etc. soul is dominant over *karmas* and one can change *karma* and where ever soul doesn't indulge in any kind of efforts for changing one's *karmas*, such soul is dependent upon *karmas* and such soul is governed by the *karmas*.<sup>16</sup> If we don't accept change occurring through auspicious efforts, then all, the practices of penances, etc. will prove to be meaningless. Tīrthānkara Mahāvīra paved the path of four fold efforts namely *udīraṇā* (pre-maturation), *upaśamanā* (suppression), *vedanā* (experience of *karma*) and *nirjarā* (shedding of *karmas*).<sup>17</sup>

Ācārya, Mahāprajña declares that it is the concept of *udīraṇā* (prematuration of *karma*) and the concept of *saṅkramaṇa* (possibility of changing *karmas*) the two revolutionary novel concepts, which prove the theory of *karma* as the theory of efforts.<sup>18</sup> Ācārya Mahāprajña says, one who wishes to make one's future bright, must concentrate on the sources of *puruṣārtha* i.e. efforts. He says, we have three sources of efforts namely the actions of mind, speech and body. Now the question arises as to how these three-fold actions can make a bright future. To this he says, if mind is pure, passionless and always thinks positively, then such mind can create a good fate. One who speaks truth, and one who is straight forward in one's speech and in one's physical actions can build a good fate.<sup>19</sup> On the other hand, if the three-fold actions work in opposite path,

then it will lead to establishment of bad fate. So control over mind, body and speech is the way to bright future.

### **The Jaina Ethical code of conduct and Society**

Ācārya Mahāprajña divides *ācāra* or conduct under the two broad categories, one is *ātmābhimukhī* i.e. the conduct which leads towards the self-upliftment and other one is *samājābhimukhī* i.e. the conduct which leads to social upliftment. Self oriented conduct (*ātmābhimukhī*) is called spiritual conduct and society-oriented conduct is called as morality.<sup>20</sup> He established that the Jaina code of conduct, namely five *mahāvratas* and five *aṇuvratas* are basically for peaceful social-existence. Basically there is misconception among the non-Jaina scholars that the Jaina Ethical philosophy gives much emphasis to individual progress only and there is no room for the social development in Jaina Ethics. It is crystal clear that the vow of non-violence means not to kill others, the vow of truthfulness means not to tell a lie in any case, the vow of non-stealing means not to steal anything without the consent of the owner and the vow of celibacy means to be content with one's own wife or completely giving up one's sexual pleasures which is the main cause of all cruel and violent actions. The vow of non-possession means to give up all sorts of possession or limiting one's possession to the possible extent. All these vows are related with the society. So *Aṇuvrata* and *Mahāvrata* both are *samājābhimukhī* as they give moral injections for social peace.<sup>21</sup> Ācārya Mahāprajña emphasized on this concept that the basic foundation of *aṇuvratas* and *mahāvratas* are, the three *guptis* i.e. control of mind, speech and body which is purely *ātmābhimukhī*.<sup>22</sup> It has nothing to do with the social upliftment. This kind of clear, impartial distinction can give raise to the concept of Jaina sociology in the world of Jaina philosophy.

### **Criteria of Morality**

There is no single criteria of morality as it changes from place to place; it changes according to different environmental situations. Eastern and Western Ethical philosophers have different views regarding the criteria of morality. Ācārya Mahāprajña founded the criterias of Jaina morality. As per his view, the main criterias of

Jaina morality are- restraints (*saṁyam*), honesty (*prāmāṇikatā*), application of pure means (*Sādhana-śuddhi*) and modulation of human relations (*mānava sambandho mein sudhāra*).<sup>23</sup>He believes that activity in which there is no restraint, is not a moral activity. So restraint over one's desire is the main basis or Jaina morality.<sup>24</sup>

Moreover Ācārya Mahāprajña believes, there is inter-link between the four basic criterias of Jaina morality. He says, unless and until, there will not be restraint over one's own desires, cases of corruption and mal-practices, all such actions which arise due to dishonesty can't be avoided. So practice of honesty and restraint over one's desires are fully inter-related. Man of honesty and controller of desires can never use the wrong means for achieving one's personal end. If the relations between persons to person are compassionate then no incident of cruelty can occur in the society. He concludes in this way that the restrain oriented life style only can bring about bright future for the individual and the society as a whole.<sup>25</sup>

In nutshell, it can be concluded that the Ācārya Mahāprajña was a man of philosophy and spirituality simultaneously. This is the main reason behind his novel contribution to the world of Jaina philosophy. Each and every line of novel contribution of Mahāprajña is capable enough to give a new insight for personal cum social transformation. Not even a single field of knowledge escaped from his wisdom, that's why his literature can create quiet a revolutionary environment and can lead towards the path of achieving global peace and peaceful co-existence in the world as a whole.

### References

1. Mahāprajña, *Jaina Darśana aura Anekānta* - Adarsh Sahitya Sangha, Churu, 1994, p. 90.
2. *Ibid*, p. 91
3. Mahāprajña, *Jaina Darśana aura Anekānta*, , op. cit., p. 92
4. Mahāprajña, *Jaina Darśana aura Anekānta*, op. cit., p. 94, *Jaina Darśana kā Samyak Darśana*, Adarsh Sahitya Sangha, Churu, 2004, p. 33

5. Mahāprajña, *Philosophical Foundations of Jainism*, Adarsh Sahitya Sangh, Delhi, 2000, p. 25
6. Mahāprajña, *Jaina Darśana kā Samyak Darśana*, op. cit., p. 50
7. Siddhasena Divākara, *Dvātrimśad-dvātrimśikā*, Baroda, 1977, *gāthā*, 1/13
8. Mahāprajña, *Jaina Darśana aura Anekānta*, op. cit., p. 128
9. Mahāprajña, *Jaina Darśana aura Anekānta*, op. cit., p. 129
10. Mahāprajña, *Jaina Darśana aura Anekānta*, op. cit., p. 84-85
11. Mahāprajña, *Philosophical Foundations of Jainism - Adarsh Sahitya Sangh*, Delhi, 2002, p. 99
12. Mahāprajña, *Jaina Darśana aura Anekānta*, op. cit., p. 101
13. Mahāprajña, *Jaina Darśana aura Anekānta*, op. cit., p. 104
14. Mahāprajña, *Jaina Darśana : Manana Aura Mīmāṃsā*- Adarsh Sahitya Sangha, Churu, 1995, p. 322
15. Mahāprajña, *Jaina Darśana kā Samyak Darśana*, op. cit., p. 49
16. Mahāprajña, *Jaina Darśana : Manana Aura Mīmāṃsā*, op. cit., p. 322
17. As found in *Jaina Darśana kā Samyak Darśana*, op. cit., p. 45
18. Mahāprajña, *Jaina Darśana kā Samyak-darśana*, op. cit., p. 46
19. *Ibid*, p. 47
20. Mahāprajña, *Jaina Darśana aura Anekānta*, op. cit., p. 140
21. Mahāprajña, *Jaina Darśana aura Anekānta*, op. cit., p. 141
22. *Ibid*, p. 141
23. Mahāprajña, *Jaina Darśana aura Anekānta*, op. cit., p. 141-143
24. *Ibid*, p. 142
25. *Ibid*, p. 146



## KARUṆĀ AND THE SIGNIFICANCE OF ITS SOCIAL IMPLEMENTATION

*Dulichand Jain\**

---

*[Karūṇā is the base of the philosophy of Non-violence advocated by Mahāvīra and Buddha. It is the pivot around which all the ethical virtues like friendliness, compassion, equanimity, tolerance, harmony and Jīvadayā revolve. Inspired by Karūṇā, the author has established a social organisation "Karuna International" the main thrust of which is to implant the seeds of love and kindness among the childrens through schooling and promoting animal shelters, animal feeding, environmental maintenance and other similar events. In this paper the author exhibits the contributions made by the said organisation.]*

Some concepts and ideas are so powerful that they can have the power to transform the human mind and the human condition in a significant way. *Karūṇā* as propounded by the Jaina Tīrthankaras is one such potent tool. The Jaina scriptures teach that life is precious to one and all; hence one should not cause harm even to the subtlest form of life. Such an attitude fosters kindness and friendliness which can unite hearts and minds. Live and let live - said Lord Mahāvīra. This slogan contains the answer to many of the problems that plague the world today such as disharmony, war cruelty, terrorism, pollution, environmental degradation, ecological imbalance - to name a few. Today there is great need to protect the environment and ecology from disaster. Such problems have taken on an overwhelming proportion, and there is a dire need to understand that they have arisen because of our selfishness and self-centredness. They have arisen because we are not in harmony with the universe, with others, and with our own selves.

\* President, Karuna International, 70, Sembudoss Street, Chennai-600001

Lord Mahāvīra was a great seer who strived to help the masses to find peace and happiness. He did this by laying emphasis on non-violence and compassion. Non-violence is considered one of the five principles of Jainism along with truthfulness, non-stealing, celibacy and non-possessiveness. One is required to conduct one's life in accordance with these principles. Compassion is the practical implementation of non-violence. One cannot practice non-violence without compassion. The practice of compassion sows the seeds of respect for another. It teaches us that just as my life is precious to me, another person's life is precious to him too.

So Mahāvīra stressed on "reverence for all life". The life of every being is sacred and must be respected. He said,

*savve pāṇā piyāuyā, suhasāyā dukkhaḥaḍḍikūlā/  
appiyavahā piyajīviṇo jīviukāmā savvesim jviyaṁpiyaṁ//* <sup>1</sup>

i.e. "All living beings are fond of life, they relish pleasure, loath misery, disfavour injury, wish for longevity and long for survival. In short, life is dear to all."

Such compassion for every form of life, human and non-human, from the single-sensed creatures to the five-sensed creatures, lies at the heart of Jainism. Life is precious and to kill any being, be it an innocent bee or a serial killer, is considered abhorrent.

No wonder then, the great seer declared compassion to be the mother of religion. He said,

*savvehiṁ bhūehiṁ dayāṇukamṇī khanti saṁjayabambha yāri*<sup>2</sup>

i.e. A true monk should have compassion on all beings, he should be of a forbearing nature, restrained and chaste.

He further said,

*koḍikallāṇajaṇaṇī duḥkhaduriyākhiḡga niṭṭhavaṇī /  
saṁsāra jalahitatarāṇī ekāciya hoi jīvadayā //* <sup>3</sup>

i.e. "Compassion gives millions of benefits; all troubles, sins and enemies are destroyed by it just as a boat which can take us across this worldly ocean."

It is in a parallel vein that the great scientist Albert Einstein stated, "Our task must be to free ourselves by widening our circle of compassion to embrace all living creature and the whole of nature and its beauty".

Thus, the need of the hour is for 'HUMANE EDUCATION PROGPAṀME'. As Yehudi Menuhin asked with his uncanny perception, "Why is compassion not part of our established curriculum, an inherent part of our education? Compassion, awe, wonder, curiosity, exaltation, humility - these are the very foundation of any real civilization, no longer the prerogatives of any of the churches but belonging to everyone, every child in every home, in every school".

It is to address the need of the hour that the KARUNA INTER'NATIONAL movement was conceived. It was built to revive and ignite these finer emotions in our youth, who will define and decide the future course of humanity.

At Karuna International, we are aware that in order to create a caring and compassionate society in the future, the seeds of love and kindness need to be implanted in children at an early age. Children are born with an inborn curiosity towards their environment, and they have a natural affinity towards birds and animals. If this innate affection can be converted into an informed awareness and sympathy, they will grow into sensitive, compassionate humane beings who will abhor all forms of '*hiṁsā*' or violence and create a truly refined and civilized society in the future.

From its humble initiation of 3 schools in 1995, the organization has grown today into a magnificent and gigantic network of more than 1850 clubs in schools and colleges across the country.

The Mission of the Karuna Movement is:

- ▶ To inculcate kindness, sympathy and understanding towards all living
- ▶ To instill reverence for life since all life forms are sacred and should not be callously destroyed for man's pleasure and benefits.
- ▶ Appreciation of the unity and harmony in the universe and the need for peaceful co-existence.
- ▶ Practicing compassion and participating in all activities that promote love and kindness.
- ▶ Promotion of vegetarian way of life.

» Development of nobility of character.

The need to spread the Karuna mission is becoming more and more urgent because the social definition for success today is instant material rewards and a flamboyant lifestyle based on high levels of consumption and self-gratification. In such an ambience, it is very easy for youngsters to lose sight of what they are trampling upon while racing towards their goals. It is important to make them realize that they cannot inflict pain or suffering on other life forms for their own pleasure. Such an attitude may bring them success, but only short-lived.

**Karuna Club-Programmes and Activities**

The Karuna club in each school is launched with an impressive, inaugural function, followed by a solemn pledge taken by the students to eschew violence and embrace compassion. These clubs receive guidance and support, as well as periodic review and assessment, by Karuna International. Each club must conduct at least six programmes annually, including meetings, competitions, exhibitions, publications, eco-clubs and guest lectures.<sup>4</sup> At these programmes, the activities must be aimed at building awareness of Karuna ideals such as kindness towards animals, protection of the environment and vegetarianism. The clubs are also required to organize a minimum of 10 activities such as visits to animal shelters, animal feeding, environmental maintenance, interaction with the elderly persons at old age homes and similar events. Based on the activity reports sent by the clubs, Karuna International confers awards during its annual conference.

Karuna International is recognized by the Animal Welfare of India and accredited to impart programmes for school and college teachers on humane education. Teachers are crucial catalysts in a child's world; hence it is important to involve them in any programme aimed towards children. A syllabus on humane education is also prepared for the guidance of teachers.<sup>5</sup> Frequent training and orientation programmes for teachers are conducted to equip them to inspire and co-ordinate the Karuna club activities in their schools. Teachers who effectively carry the Karuna torch forward are felicitated by Karuna International.

The Karuna club programmes are formulated after thorough consultations eminent educationalists and teachers so as to make them relevant, practical; effective and enjoyable. A fourteen-point programme has been designed as a model to be followed by Karuna clubs.

Karuna International is established to address the following concerns regarding the erosion of value systems in our society:

- ▶▶ Degradation and imbalances in the ecosystem.
- ▶▶ The excessive and indiscriminate consumption of non-vegetarian food which leads to the destruction of animal lives.
- ▶▶ The need to preserve the cosmic integral unity of the universe where all natural resource are naturally balanced and biodiversity is maintained.
- ▶▶ The need for humane education worldwide and the importance of compassion as a way of life.

By inculcating the nutritive values of vegetarian diet, the Karuna movement has transformed the lives of many non-vegetarian teachers and students. Many have voluntarily opted to consume vegetarian diet after understanding the various cruelties caused to poor voiceless animals by non-vegetarian food. By this marked transformation, they indirectly exhibit their compassion and kindness towards poor animals.

**Highlights:**

- ▶▶ Karuna International has organized 12 All India Conferences in which 1000 teachers and activities have taken part in each conference. Also they have organized 8 regional conferences on state levels.
- ▶▶ We have organized 300 teachers training programmes and 400 students training programmes. They have also conducted thousand of Inter-school competitions on the theme of compassion, non-violence, animal welfare, prevention of cruelty, love for nature and environment and maintaining ecological balance.
- ▶▶ We have published 12 books in English, 12 in Hindi, 5 in Tamil and 3 in Telugu which are distributed free in all schools

and colleges.

- ▶ With the efforts of Karuna International, 1,02,000 students of 96 schools have decided to use only non-leather shoes. They have also undertaken not to use any animal products.
- ▶ 22,000 students have switched over to a vegetarian diet.
- ▶ Karuna International publishes a monthly Newsletter which gives information about all Karuna club programmes.
- ▶ In the competition on "Stories of compassion" book, 40,000 students give examination and they are awarded prizes worth Rs.2, 50,000/- each year.

### **Our Hope for Tomorrow**

To shoulder this ideology forward among the community at large, 35 Karuna Kendras have been established in towns and cities to involve more and more citizens; these Kendras will strengthen and vitalize the movement further. Our insensitivity and carelessness towards animal lives and our veering towards non-vegetarian food habits is largely responsible for environmental degradation and global violence that stalks the world today. This has been recognized not only in India, but across the globe. The need for compassion is the most urgent requirement of the world today for its peace and continued survival.

Thus, we find that the noble thought of '*Jīva-dayā*' or compassion preached by Lord Mahāvīra 2500 years ago has been implemented effectively by Karuna International. Within the past 14 years significant work has been done by these clubs in communicating the message of compassion to 10,00,000 children and 35,000 teachers through 1850 schools and colleges.

### **Reference:**

1. *Ācārāṅga - Sūtra* 1.2.3. 63
2. *Uttarādhyayana- Sūtra* 21.13
3. *Daśavaikālika-cūrṇi* 5.11
4. *Karuna club: A universal movement*, page 7 published by Karuna International, Chennai-I.
5. *Syllabus on Humane Education*, Published by Karuna International, Chennai-I.

## POTENTIALS OF TOURISM WITH REFERENCE TO VARANASI AND ITS JAINA PLACES

Vivek Tiwari\*

---

[*Varanasi is one of the oldest living cities of the world. It has confluence of all the three major religious traditions of India-Hinduism, Jainism and Buddhism. That is why it is equally regarded as the most sacred place and pilgrimage for all three traditions. Thousands of tourists visit Varanasi every year. So far tourism is concerned, here in Varanasi Buddhist sites are prominent but Jaina sites are rather ignored. In this paper the author underlines the potentials of Jaina tourist sites sharing some novel ideas to promote Jaina tourism in Varanasi.*]

Tourism in its different forms has been one of the most vital and essential human activity, which promotes mutual understanding and social harmony. In the true spirit of “*Vasudhaiva Kuṭumbakam*” i.e. the world is a family, tourism starts with travel and travel brings movement and the movement is life essence (*prāṇavāna*). The *Upaniṣadic* philosophy of *caraiyeti-caraiyeti-caraiyeti* i.e. keep on moving, keep on moving; keep on moving, underlines the same principle. Tourism is a tremendous source of knowledge which has rightly been pointed out by St. Augustine who states that- the world is a book and those who do not travel, read its only one page. Through the promotion of tourism we can move forward to achieve the goal of **World Peace** also. In Indian context in every social, religious activity like marriage, pilgrimage, and performance of rituals, including *saṃskāras*, we can very easily find the spirit of

---

\*Research Scholar, Dept. of AIHC & Archaeology, Jiwaji Univ.  
Gwalior

tourism which now has become well defined and collaborative activity.

Kashi or Varanasi, as an ageless city, is said to be one of the oldest living cities of the world. Its sacredness from the view point of convergence of all the three religious and cultural streams, namely Vedic-Puranic (not Hindu)<sup>1</sup>, Buddhism and Jainism is well known. Varanasi is truly the holiest city and also the cultural capital of India.

Kashi (city of Divine Light) is right word to denote the holiness and wholeness of the city but Varanasi in modern context has been accepted as synonym and hence by Varanasi we mean the whole of present city extended beyond Banaras Hindu University in south and beyond Sarnath in north. Varanasi allures and invites tourists not only from different parts of India but also from all over the world because of its rich and varied past heritage and traditions and more because of its living cultural diversity with inherent unity<sup>2</sup>. The city with somewhat meager material facilities for the tourists is the city of experience and feel of spirituality. It is perhaps the only city in India which is sacred equally to Buddhists, Jainas and of course to the people of Vedic-Puranic faith. So far the city is mainly known for tourism in Buddhist<sup>3</sup> and Vedic-Puranic<sup>4</sup> (not Hinduism) sectors and its importance in Jain context has been denied while Varanasi is equally potential to offer very significant places of Jain religion and culture for the tourists, including Jaina pilgrims (tīrthāṭana).

Jainism has been one of the three main religious streams of India which was basically a religion of *Śramanic* (ascetic) tradition. Jainism developed around the 24 Jinas or the Tīrthaṅkaras who represent the basic tenets of Jainism i.e. deep austerity, non-violence and absolute renunciation. Its importance in Jain context is apparent from the tradition, according to which out of 24 Jinas four were born in and around Varanasi, they are Supārśvanātha (7<sup>th</sup>

Jina), Candraprabha (8<sup>th</sup> Jina), Śreyāmsanātha (11<sup>th</sup> Jina) and Pārśvanātha (23<sup>rd</sup>). Of these, Pārśvanātha, who is considered to be a historical Jina and who is usually assigned the time of 8<sup>th</sup> century B.C, occupies the most venerated position in Varanasi. As a consequence Varanasi became the place of Jaina pilgrimage. In the ambience of Varanasi, we come across plenty of ancient and medieval Jaina vestiges in the forms of icons and temples. The most important of such examples are found from Rajghat and several others places in Varanasi (Bhelupura, Bhadaini Mata Anandmai Ghat, Ramghat and Maidagin) as well as from Sarnath. The Jaina remains from Varanasi belong mainly to a period from 6<sup>th</sup> century A.D. to 20<sup>th</sup> century. These remains are affiliated to both the Śvetāmbara and Digambra sects and most of the temples are dedicated to Supārśvanātha and Pārśvanātha. However a few images of Rṣabhanātha (1<sup>st</sup> Jina), Vimalanātha (13<sup>th</sup> Jina), Neminātha (22<sup>nd</sup> Jina) and Mahāvīra (24<sup>th</sup> Jina and senior contemporary of Buddha) whose lives are not associated with Varanasi, are also found.

Although we do not have surviving ancient Jaina temple in Varanasi yet on the basis of the antiquity and continuity of Jainism in Varanasi, as established by the *Varanasi-Kalpa* of *Vividhatīrtha Kalpa* (of Jinaprabha Sūri of 14<sup>th</sup> century A.D), mentioning about the Pārśvanātha temple of Varanasi, it may be postulated that some ancient Jaina temples dedicated to Pārśvanātha must have existed in past.

One of the earliest images from Varanasi represents Mahāvīra which is now preserved in Bharat Kala Bhavan, Varanasi (Acc. No. 161). The image, datable to c. 6<sup>th</sup> century A.D., is particularly significant because it is one of the earliest examples which shows the cognizance of the Jina which in present case is lion. The graceful image exhibits all the features of the Gupta images which are to be seen in its plasticity, serenity, elegance and animation. The body contours reveal vegetative rhythm. The image shows a wonderful

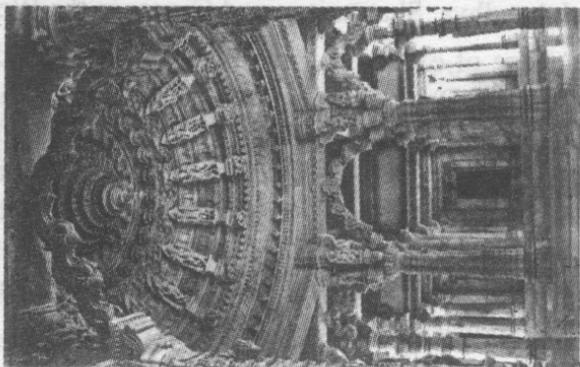
synthesis between the external form and the inner meaning with the result that the figure reveals the height of spirituality. Mahāvīra absorbed in deep meditation is seated without *Trichatra* on a throne decorated with *Viśvapadma*.

Another image of equal importance represents Neminātha which is found from Rajghat and is presently preserved in the Bharat Kala Bhavan, Varanasi (Acc. No. 212). The image, datable to c.7<sup>th</sup> century A.D., is one of the earliest images which contains the figures of *Yakṣa* and *Yakṣī*. Even in the absence of conch cognizance of Neminātha, the image could be identified with Neminātha on account of the figures of his Ambikā Yakṣī (shown with two babies) and also a palmtree which is associated with Balarāma who was the cousin brother of Neminātha.

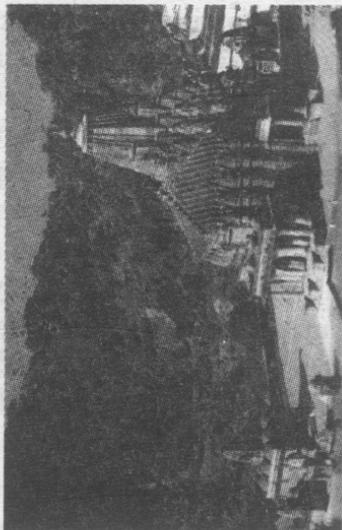
Through this paper as a research student of Tourism I want to make some submissions for promoting tourism in Jaina sector also so that, besides the Jaina pilgrims, general domestic and International Tourists could also be offered some new packages in Varanasi This could be combined with places of Buddhist and Vedic-Puranic interest namely, Sarnath, Vishwanatha Temple, Ganga (Ganga Arati and Boat-ride). Atleast half day should be given for visiting Jaina temples at Sarnath, Chandrapuri and Bhelupur and Bhadaini, last two being birth places respectively of Pārśvanātha and Supārśvanātha. In museums like Archaeological Museum, Sarnath and Bharat Kala Bhavan (B.H.U) also some time should be devoted for appreciating the aesthetic and spiritual beauty of Jaina images.

Another package could be developed as exclusive Jaina circuit which may originate from Varanasi and move to Pava, Sammed Sikhara in East and Ayodhya, Shatrunjaya and Ginnar in the West.

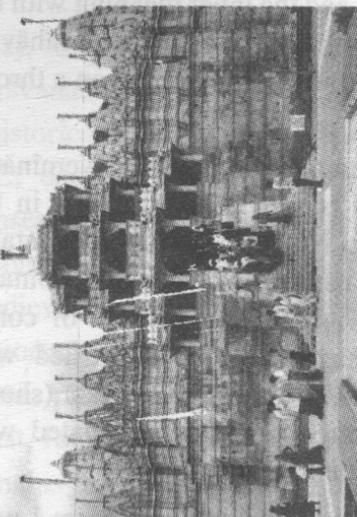
One more package of exclusive Jaina tourism may, besides the above places, include Deograh, Khajuraho, Gwalior, Girnar, Shatrunjaya, Shravanabelgola, Tiruparuttikunram and Halebid. This would be for the Tourists who are interested more in knowing about the contributions of Jainism to art and culture. Now the time has come when we must think rather should make positive efforts for the development of Jaina Tourism for the benefit of Jaina community in particular and global Tourists in general.



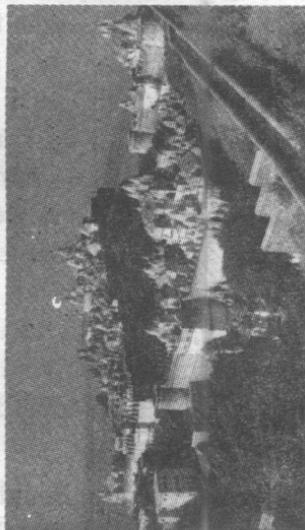
**Fig-1**



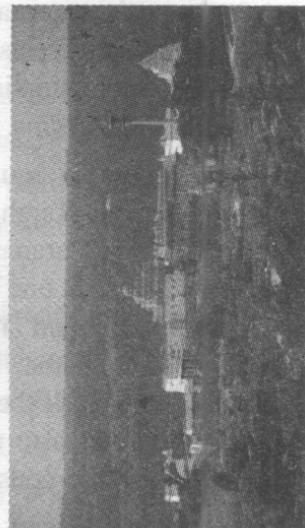
**Fig-2**



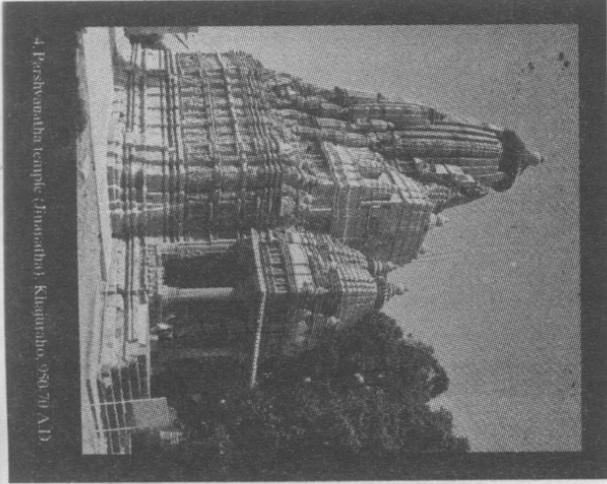
**Fig-3**



**Fig-4**



**Fig-5**



4. Parswanatha temple (Jhoushat), Khatipurhat, 980-79 A.D.

**Fig-6**



**Fig-7**

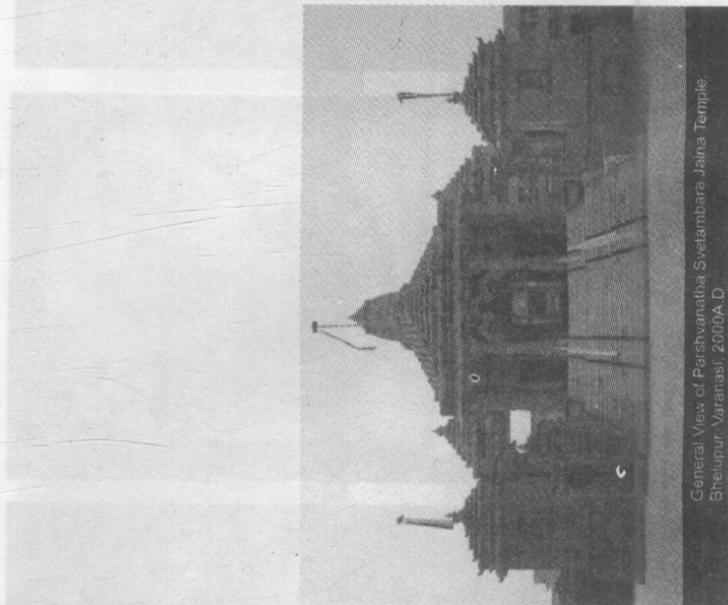


**Fig-8**



Rishabhdeva, Varanasi, 933 A.D.  
Parshvanatha Digambara Jaina Temple,  
Bhelupur, Varanasi.

**Fig-9**



General View of Parshvanatha Svetambara Jaina Temple,  
Bhelupur, Varanasi, 2000A.D.

**Fig-10**



Parshvanatha Svetambara Jaina Temple, Bhelupur, Varanasi, 2000A.D.

**Fig-11**

### Foot-Notes and References

1. Varanasi as an abode of Lord Śiva is known as the *avimukta* and *mokṣadā* city. It is the city where the sacred most river Mother Ganga flows who is beautifully adorned by the crescent shaped chain of 85-*ghats* (stepped river bank). These *ghats* are occupied by the buildings, Dharmshalas and temples of all the regions.
2. Kamal Giri, Maruti Nandan Tiwari, V. P. Singh, "Jaina Mandir aur Murtiyan", *Kashi Ke Mandir aur Murtiyan*, Varanasi, p 97-103. Maruti Nandan Tiwari, "Potentials of Varanasi for tourism-An Overview", *Dimensions of Tourism in Varanasi*. National Seminar Souvenir held at Banaras Hindu University Varanasi in Dec. 7-9, 1998; p 34-37.
3. Sarnath in Varanasi is one of the sacred most places of the Buddhists, where Buddha gave his first sermon and as a consequence Sarnath developed as one of the most prolific Buddhist sites of India, producing two best creations of Indian art in the forms of Ashokan Lion pillar Capital and Gupta period Buddha image in *dharmacakra pravartan-mudrā* (preaching posture)
4. We have refrained from using the word Hinduism in narrow sense and instead we have used Vedic-Puranic.

### Details of Illustrations

1. Ceiling of Raṅgamaṇḍapa of Vimala Vasahi, Mt. Abu (Rajasthan), 12<sup>th</sup> century A.D.
2. Ajitanātha Temple, Taranga (Gujarat), 12<sup>th</sup> century.
3. Jaina Temple, Ranakpur (Rajasthan), 14<sup>th</sup> century A.D.
4. Jaina Temples on Shatrunjaya hill (Gujarat), 12<sup>th</sup>-20<sup>th</sup> cent. A.D.
5. Jaina Temples, Shravanbelgola (Karnataka), 10<sup>th</sup>-12<sup>th</sup> cent. A.D.
6. Pārśvanātha Temple, Khajuraho (M.P.), 950-70 A.D
7. Mahāvīra, Varanasi (U.P.), Gupta period, in Bharat Kala Bhavan, Varanasi.
8. Neminātha, Rajghat, Varanasi (U.P.), 7th century A.D in Bharat Kala Bhavan, Varanasi.
9. Ṛṣabhanātha, Varanasi, 983 A.D. Pārśvanātha Digambara Jaina Temple, Bhelupura, Varanasi.
10. General view of Pārśvanātha Śvetāmbara Jaina Temple, Bhelupur, Varanasi , 2000 A.D.
11. Sarasvatī, Pārśvanātha Śvetāmbara Jaina Temple, Bhelupur, Varanasi, 2000 A.D.

## सम्प्रदायातीत आचार्य श्री महाप्रज्ञ

आचार्यश्री महाप्रज्ञ राजस्थान के उन सन्त विभूतियों में गिने जाते हैं जिन्होंने जन-कल्याण की दिशा में नवीन अवधारणाएं दीं। इनके बहुआयामी व्यक्तित्व ने शैक्षणिक, सामाजिक, धार्मिक, आध्यात्मिक सभी क्षेत्रों में अनेक कीर्तिमान गढ़े। उन्होंने अपने गहन ज्ञान, दूरदर्शी दृष्टि एवं प्रज्ञा से पूरे विश्व को आलोकित किया। झुंझनु जिले के 'टमकोर' गाँव में बालूजी परिवार में तोलाराम चोरड़िया के पुत्र रूप में १४ जून १९२० आषाढ कृष्ण त्रयोदशी को आपका जन्म हुआ। आपमें १० वर्ष की उम्र में ही वैराग्य भाव जाग्रत हो गया और आचार्य कालूगणि की निश्रा में २९ जनवरी १९३१ में सरदार शहर में हुए मर्यादा महोत्सव में तेरापंथ धर्म संघ में आप दीक्षित हो गये। यहाँ उन्हें 'मुनि नथमल' नाम दिया गया। आचार्य कालूगणी ने आपको अध्ययनार्थ आचार्य तुलसी के पास भेजा जो कालान्तर में नवमें आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित हुए। १९६५ में आचार्य तुलसी ने मुनि नथमल को तेरापंथ का निकाय-सचिव नियुक्त किया। नवम्बर १९७८ में आचार्यश्री ने मुनि नथमल को 'महाप्रज्ञ' नाम दिया। १९७९ में आपको युवाचार्य पद प्रदान किया गया जो कि आचार्य के बाद दूसरा सबसे बड़ा पद था। तभी से आप युवाचार्य महाप्रज्ञ कहलाने लगे। अपने दीक्षा पर्याय के २०वें वर्ष में महाप्रज्ञजी ने ध्यान की महत्ता का अनुभव किया और ध्यान के विषय में उन्होंने नूतन आध्यात्मिक प्रयोग प्रारम्भ किया तथा प्रेक्षाध्यान के विभिन्न वैज्ञानिक उपक्रम के अन्तर्गत कई विशिष्ट प्रयोग निर्दिष्ट किये। उन्होंने मस्तिष्क से परे सोचा और अन्तःप्रज्ञा के क्षेत्र में प्रवेश किया तथा प्रेक्षाध्यान के माध्यम से जीवन विज्ञान को समझने की शिक्षा दी।

१९९५ को आचार्य तुलसी ने तेरापंथ के दसवें आचार्य के रूप में उन्हें अपना उत्तराधिकारी बनाया। इसी वर्ष वे जैन विश्व भारती, लाडनू के अनुशास्ता भी बनाये गये। ५ दिसम्बर २००१ को मानव में अहिंसक चेतना के जोगरण तथा नैतिक मूल्यों के विकास के लिये आचार्यश्री ने सुजानगढ़ से एक ऐसी अहिंसा-यज्ञा प्रारम्भ की जिसने अहिंसा, सौहार्द, भ्रातृत्व एवं शान्ति का संदेश प्रसारित किया और पूरे देश में अनेक स्थलों पर अहिंसा के केन्द्र खोले गये।

२००३ में उन्हें इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय एकता पुरस्कार से भी सम्मानित किया गया। १५ अक्टूबर २००३ को सूरत में भारत के राष्ट्रपति डॉ. ए.पी.जे. अब्दुल कलाम के जन्मदिवस पर आयोजित एक कार्यक्रम में आचार्य महाप्रज्ञ एवं राष्ट्रपति द्वारा भारत की जनता और युव्य पीढ़ी को आध्यात्मिक प्रशिक्षण देने हेतु एक योजना का शुभारम्भ भी किया गया जिसे Surat Spritual Declaration (SSD) नाम से जाना जाता है। उन्होंने कुल २३३ पुस्तकों का प्रणयन किया। संस्कृत भाषा में 'संबोधि, अश्रुवीणा, मुकुलम्, अतुला तुला आदि तथा हिन्दी भाषा में 'श्रमभायण' कविता जगत् में दस्तावेजी हस्ताक्षर एवं प्रमुख ग्रन्थ माने जाते हैं। आपको जैन आगम, बौद्ध ग्रन्थों, वैदिक ग्रन्थों तथा अन्य प्राचीन एवं अर्वाचीन शास्त्रों का गहन ज्ञान था।

आचार्य महाप्रज्ञ का अन्तिम प्रवचन जिसमें उन्होंने कहा था "हर व्यक्ति जीने की चाह रखता है किन्तु दुःख व मृत्यु बिना बुलाये आ जाती है। अनन्त सुखानुभूति करनी है तो अपने अन्दर देखो, भीतर में अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द, अनन्त शक्ति है। न किसी के द्वारा दुःख दिया जाता है न सुख लिया जाता है। इसी अन्तिम प्रवचन के बाद चातुर्मास के लिये चुरु पहुँचे आचार्य महाप्रज्ञ की दिल की गति में अवरोध उत्पन्न हुआ और अपने जन्म के दसवें दशक में प्रवेश के एक माह पूर्व ही उन्होंने महाप्रयाण कर दिया।

आज महाप्रज्ञ नाम एक पवित्र मन्त्र बन गया है। अनेक पुरस्कारों से पुरस्कृत होकर भी उनका मन सदा सारे प्रभावों से अछूता रहा। उनके अनासक्त अघरों पर सदा निःस्पृहता के अमर गीत मुखर होते रहे। हमें विश्वास है स्व. आचार्य महाप्रज्ञ का यह अनासक्त योग युगदीवट पर सदा प्रेरणा का दीप बनकर जलता रहेगा। ऐसे युगद्रष्टा महापुरुष के प्रति समस्त पार्श्वनाथ विद्यापीठ परिवार श्रद्धा सुमन अर्पित करता है।

\*

## जिज्ञासा और समाधान

(१) जिज्ञासा- श्वेताम्बर और दिगम्बर जब दोनों एक ही धर्म को मानने वाले हैं तो फिर उनमें क्या अन्तर है? और यह अन्तर कैसे आया?

प्रश्नकर्ता- डा० मनोरमा जैन, वाराणसी

समाधान\*- श्वेताम्बर और दिगम्बर जैनों में क्या अन्तर है इसे जानने से पूर्व इसके इतिहास-क्रम को जानना आवश्यक है। आज से २५३६ वर्ष पूर्व चौबीसवें तीर्थङ्कर भगवान् महावीर (जन्म ई. पूर्व ५९९) के निर्वाण (ई. पूर्व ५२७) के १६२ वर्षों तक (चन्द्रगुप्त के शासनकाल तक) जैन संघ में कोई मतभेद नहीं था। महावीर के बाद गौतम, सुधर्मा और जम्बू स्वामी ये तीनों गणधर केवली (अनुबद्ध केवलज्ञानी) हुए।

जम्बू केवली के बाद श्वेताम्बर परम्परानुसार क्रमशः प्रभव, शय्यभव, यशोभद्र, संभूतिविजय और भद्रबाहु ये पाँच चौदह पूर्वों के ज्ञाता हुए। संभूतिविजय और भद्रबाहु ये दोनों यशोभद्र के शिष्य थे। संभूतिविजय के शिष्य स्थूलभद्र थे। दिगम्बर-परम्परानुसार जम्बू स्वामी के बाद विष्णु, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु ये पाँच श्रुतकेवली (आगमज्ञ) हुए। इस तरह भद्रबाहु को दोनों परम्पराओं ने मान्य किया। इसके बाद निमित्तज्ञानी भद्रबाहु चन्द्रगुप्त के शासनकाल में मगध में पढ़ने वाले १२ वर्षीय अकाल को जानकर अपने संघ के साथ दक्षिण में समुद्र तट की ओर चले गए। जो शेष साधु बचे वे स्थूलभद्र (निर्वाण, वी.नि. सं. २१९) के नेतृत्व में वहीं रह गए।

अकाल के दूर होने पर पाटलिपुत्र में स्थूलभद्र ने जैन साधुओं का एक सम्मेलन बुलाया जिसमें मौखिक परम्परा से चले आ रहे ग्यारह अंग ग्रन्थों का संकलन किया गया। बारहवाँ अंग 'दृष्टिवाद' भद्रबाहु के अलावा किसी दूसरे को याद नहीं था। उनकी अनुपस्थिति से उसका संकलन नहीं हो सका। इसके बाद आर्य स्कन्दिल (ई. सन् ३००-३१३) के नेतृत्व में मथुरा में दूसरा सम्मेलन हुआ। करीब इसी समय नागार्जुनसूरि के नेतृत्व में बलभी (सौराष्ट्र) में भी एक सम्मेलन हुआ। इसके बाद दोनों नेता आपस में नहीं मिल सके जिससे आगमों

\* प्रो. सुदर्शन लाल जैन, निदेशक, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी

का अंशतः पाठभेद बना रह गया। इसके बाद दंढर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के नेतृत्व में वलभी में एक तीसरा सम्मेलन (वी.नि. सं. १८०-१९३) हुआ। इसमें जिसे जो याद था उसे पुस्तकारूढ कर दिया गया।

इधर दिगम्बर परम्परानुसार महावीर निर्वाण के ६८३ वर्ष बाद (ई. सन् प्रथम शताब्दी मध्यकाल) गिरनार पर्वत की चन्द्र गुफा में तपस्या में लीन आचार्य धरसेन के पास (महाराष्ट्र में स्थित नगरी) आचार्य अर्हद्वलि ने पुष्पदंत और भूतबलि नामक दो शिष्यों को भेजा। वहाँ कुछ पूर्वों का ज्ञान प्राप्त कर दोनों ने मिलकर षट्खण्डागम ग्रन्थ को लिपिबद्ध किया। इसके बाद गुणधर ने कसायपाहुड और आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसारादि ग्रन्थों की रचना की। यही आज दिगम्बर परम्परा के मान्य आगम हैं। दिगम्बरों ने सभी अंग आगम ग्रन्थों और उपाङ्ग आगम ग्रन्थों का लोप स्वीकार कर लिया, जो एक बड़ी भूल हुई।

इधर उत्तर भारत में अकाल की विशेष परिस्थितियों में स्थूलभद्र के संघ ने अपवाद स्वरूप वस्त्रादि ग्रहण करके कुछ नियमों में शिथिलता को स्वीकार कर लिया। फलस्वरूप आगे चलकर (ई.सन् प्रथम शताब्दी) श्वेताम्बर, दिगम्बर भेद बन गए और दोनों की गुर्वावलियाँ भिन्न हो गईं। प्रारम्भिक मतभेद साधु के वस्त्र को लेकर था। गुरु और शास्त्र में मतभेद होने पर भी बहुत समय तक एक ही प्रकार की मूर्ति की दोनों उपासना करते रहे परन्तु बाद में आराध्य में भेद न करके मूर्तियों की संरचना में अन्तर कर दिया गया। कुछ मान्यताओं में तथा कुछ बाह्य क्रियाओं आदि में बाह्य मतभेद होने पर भी बौद्धों की तरह दार्शनिक सिद्धान्तों (छह द्रव्य, सात तत्त्व, स्याद्वाद, अनेकान्तवाद, पांच महाव्रत, अहिंसा, वीतरागता आदि) में मतभेद नहीं हुए।

इस ऐतिहासिकता को दृष्टि में रखकर परम्पराओं की भिन्नता को निम्न सारणी द्वारा दर्शाया जा सकता है—

<u>श्वेताम्बर परम्परा में स्वीकृत</u>	<u>दिगम्बर परम्परा में स्वीकृत</u>
१. सवस्त्र मुक्ति होती है।	१. सवस्त्र मुक्ति नहीं होती है।
२. स्त्रीमुक्ति (उसी पर्याय में) संभव है।	२. नहीं।
३. गृहस्थावस्था में मुक्ति संभव है।	३. नहीं।
४. भरत चक्रवर्ती को शीशमहल में ही केवलज्ञान प्राप्त हो गया था।	४. नहीं।
५. मल्लिनाथ (१९वें तीर्थङ्कर) स्त्री थीं।	५. नहीं, पुरुष थे।

६. केवलज्ञानी कवलाहार (भोजन) करते हैं। ६. केवलज्ञानी का शरीर परम औदारिक हो जाता है अतः भोजन ग्रहण की आवश्यकता नहीं है।
७. केवलज्ञानी नीहार (मल-मूत्रादि का विसर्जन करते हैं। ७. नहीं।
८. मरुदेवी को हाथी पर चढ़े हुए ही मुक्ति हो गई। ८. नहीं।
९. साधु के लिये पहले १४ उपकरण ग्राह्य थे अब और अधिक हो गए हैं। ९. साधुको संयम-रक्षणार्थ पिच्छी, कमण्डल और शास्त्र उपकरण ही स्वीकृत हैं, अन्य नहीं।
१०. वस्त्राभूषण युक्त (अलंकृत) प्रतिमा पूज्य है। प्रतिमा की संरचना में भी थोड़ा अंतर है। १०. नहीं, पूर्ण दिगम्बर प्रतिमा (पद्मासन या खड्गासन मुद्रा में) ही पूज्य है। उनकी ध्यानमुद्रा ऐसी हो जिसमें चक्षु अघखुली अवस्था (नासाग्र दृष्टि) में हो तथा शरीर से वीतरागता प्रकट होती हो।
११. भगवान् महावीर का गर्भपरिवर्तन (ब्राह्मणी के गर्भ से क्षत्रियाणी के गर्भ में) हुआ था। ११. नहीं, क्षत्रियाणी के गर्भ में ही अवतरण हुआ था।
१२. भगवान् महावीर का विवाह हुआ था और एक कन्या भी हुई थी। १२. दोनों नहीं।
१३. महावीर तपकाल में १२ मास तक वस्त्र पहने रहे। १३. नहीं।
१४. साधुओं और साध्वियों के द्वारा कई घरों से भिक्षाचर्या लाकर एकाधिक बार आहार करना। १४. विधि मिलने पर एक ही घर में खड़े-खड़े अंजुली में एक बार ही आहार, पानी आदि लेना 'साध्वियां बैठकर आहार करती हैं' यह अन्तर है।
१५. ग्यारह अंग-आगम उपलब्ध हैं परन्तु दृष्टिवाद और पूर्वो का लोप हो गया है। १५. समस्त अंग और पूर्वो का लोप हो गया है। पूर्वो पर आधारित षट्खण्डागम तथा कषायपाहुड

ग्रन्थ उपलब्ध हैं परवर्ती कुन्दकुन्दाचार्य आदि के ग्रन्थ आगमवत् हैं।

- |     |   |     |   |
|-----|---|-----|---|
| १६. | आगम अर्धमागधी प्राकृत में लिखित हैं।  | १६. | जैन शौरसेनी प्राकृत में आगम लिखित हैं।  |
| १७. | स्वर्ग १२ हैं और उनके मुख्य इन्द्र भी १२ हैं।   | १७. | स्वर्ग १६ हैं परन्तु उनके मुख्य इन्द्र १२ ही हैं। सब मिलाकर इन्द्रों की संख्या १०० है।  |
| १८. | मुनि के २७ मूल गुण हैं। दिगम्बरों के मूलगुणों से कुछ अन्तर भी है।   | १८. | मुनि के २८ मूल गुण हैं।   |
| १९. | तीर्थङ्कर की माता को १४ स्वप्न आते हैं।   | १९. | तीर्थङ्कर की माता को १६ स्वप्न आते हैं।   |
| २०. | केवली के ऊपर उपसर्ग सम्भव है।   | २०. | नहीं।   |
| २१. | मानुषोत्तर पर्वत से आगे मनुष्य जा सकता है।  | २१. | नहीं।   |
| २२. | अंगग्रन्थों के संकलन हेतु वाचनायें हुईं।  | २२. | नहीं।   |
| २३. | पार्श्वनाथ के चातुर्याम धर्म (अहिंसा, सत्य, अचौर्य और अपरिग्रह) को महावीर ने पञ्चयाम (ब्रह्मचर्य जोड़कर) किया। इस परिवर्तन का कारण था मनुष्यों की विचार-शक्ति की भिन्नता। तीर्थकर आदिनाथ के जीव ऋजु-जड़ थे। दूसरे से तेईसवें तीर्थकर के काल के जीव ऋजुप्राज्ञ थे परन्तु महावीर के काल के जीव वक्र-जड़ थे। | २३. | ऐसा नहीं है, परन्तु सामायिकादि चार प्रकार के चारित्र में छेदोपस्थापना चारित्र जोड़कर पञ्चयाम किया। इस परिवर्तन में श्वेताम्बरवत् कारण थे। |
| २४. | पार्श्वनाथ के शिष्य केशी का महावीर के शिष्य गौतम के   | २४. | ऐसा उल्लेख नहीं है। अचेल, पञ्चयाम तथा रत्नत्रय धर्म इन्हें  |

साथ संवाद हुआ था और केशी ने अपने ५०० शिष्यों के साथ महावीर का धर्म (पञ्चयाम तथा अचेल धर्म) स्वीकार किया था। वस्तुतः 'रत्नत्रय' (सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र) दोनों का मूल लक्ष्य था।

भी अभीष्ट हैं।

२५. सुधर्मा गणधर से गुर्वावलि प्रारम्भ है, गौतम गणधर से नहीं। आज सभी सन्तानें सुधर्मा की हैं। आगमों में कहीं-कहीं गौतम द्वारा प्रश्न किए गए हैं।
२५. इन्द्रभूति गौतम गणधर से गुर्वावलि प्रारम्भ होती है। इन्होंने ही १२ अंगों को संयोजित किया और सुधर्मा को सौंपा। सुधर्मा ने जम्बू कौ सौंपा।
२६. स्थूलभद्र अन्तिम श्रुतधर (११ अंग, १४ पूर्वों के ज्ञाता) थे। वज्रस्वामी १० पूर्वों के तथा उनके शिष्य आर्यरक्षित ९.५ पूर्वों के ज्ञाता थे। तत्पश्चात् पूर्वों का ज्ञान लुप्त हो गया। केवल ११ अंग बचे रह गये।
२६. ६८३ वर्षों तक अंगज्ञान की परम्परा क्षीण होते हुए भी अविच्छिन्न रही।
२७. अंग बाह्य (उपाङ्ग, मूलसूत्र आदि) श्रुतों की आज भी सत्ता है परन्तु उनकी संख्या आदि में कुछ अन्तर है।
२७. अंगबाह्य श्रुत भी लुप्त हो गया।
२८. भगवान् के पैरों का नाखून युक्त ऊपरी चरण चिह्न पूज्य है।
२८. मिट्टी में पैर रखने पर जैसे चिह्न बनते हैं वैसे भगवान् के चरण चिह्न पूज्य हैं।
२९. अवान्तर पन्थ भेद
२९. अवान्तर पन्थ भेद
- (क) चैत्यवासी या मंदिरमार्गी (चौथी-पाँचवीं शताब्दी)। ये मुखपट्टी हाथों में रखते हैं परन्तु बोलते समय उसे मुख पर रखते हैं।
- (क) भट्टारक पंथी (१३वीं शताब्दी)। ये मूर्तिपूजक हैं।
- (ख) स्थानकवासी (१५वीं शताब्दी)।
- (ख) तारणपंथी (१५वीं शताब्दी)। ये

में लम्बी मुखपट्टी रखते हैं।  
मूर्तिपूजा नहीं करते।

(ग) तेरहपंथी (१८वीं शताब्दी)। ये चौड़ी मुखपट्टी रखते हैं। मूर्ति पूजक नहीं हैं।

मूर्तिपूजक नहीं, शास्त्रपूजक हैं।

(ग) तेरहपंथी और बीस पंथी (१७वीं शताब्दी)। ये दोनों मूर्तिपूजक हैं तेरह पंथ में स्त्रियाँ भगवान् का अभिषेक नहीं कर सकतीं। इनके यहाँ पूजा में सचित्त पुष्प, नैवेद्य आदि नहीं चढ़ाया जाता। बीस पंथ में ये दोनों बातें स्वीकृत हैं। ये भगवान् को चन्दन और फूलों से अलंकृत भी करते हैं।

(घ) कहानपंथी या मुमुक्षुपन्थी या सोनगढ़ी (२०वीं शताब्दी)। ये निश्चय नय मार्ग का अनुसरण करते हैं तथा तेरहपंथी की तरह मूर्तिपूजक हैं।

३०. गुर्वावलि-सुधर्मा, जम्बू, प्रभव, शय्यंभव, यशोभद्र शिष्य, (संभूतिविजय और भद्रबाहु), स्थूलभद्र (संभूतिविजय के शिष्य)।

३०. गुर्वावलि-गौतम, सुधर्मा, जम्बू, विष्णु, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्धन, भद्रबाहु।

इसी तरह अन्य अवान्तर भेद भी देखे जा सकते हैं। दार्शनिक सिद्धान्तों की व्याख्या में भी कहीं-कहीं अन्तर मिलता है (जैसे, प्रमाण-लक्षण, बन्ध-प्रक्रिया आदि)।

## Question (2)

**Is peaceful co-existence possible through Jainism?**

**Question by:** Sandeep Kumar Jain, Manager, CISCO, USA.

**Answer:** Everybody wants happiness and peaceful co-existence in his life. All the religions and faiths teach us to strive

towards this ultimate goal of peaceful co-existence. Jainism enables an individual and societies to achieve this ultimate goal by prescribing them to believe and acquire the **Right Vision, Right Knowledge and Right Conduct**. In order to acquire these three objectives, Jainism proposes the following three principles to practice:

1. Non-violence (Ahimsā)
2. Abstinence from worldly possessions (Aparigraha)
3. Multiplicity of Views (Anekānta)

Non-violence is deeply rooted in the Jaina philosophy. Jainism believes that all types of evils can be eliminated by practicing non-violence. Violence is commonly believed to mean bodily harm to someone: additionally, Jainism believes that hurting someone's feelings or emotions either directly or indirectly, especially when done on purpose, are also violence. Non-violence is for the brave people. Mahatma Gandhi fought against the British rule to free India based on the sound principles of Non-violence. All the 24 Jaina Tīrthaṅkaras were born in royal families and were also great warriors; but they all realized that it is more courageous to conquer oneself than the outside world.

It is extremely challenging to practice the purest form of Non-violence in our daily lives. Violence can occur from one of the following four kinds of activities:

- a) Accidental violence is caused by living a life while doing daily routine work.
- b) Occupational violence is caused while doing business.
- c) Protective violence is caused while protecting oneself when attacked from others as a reaction.
- d) Intentional violence is caused either by making a mental determination or by thinking about hurting someone.

Jainism prescribes that a common person must avoid intentional violence by taking extra measures, while the other forms of violence must be avoided as far as possible. Jainism insists on

vegetarian food habits and strongly opposes non-vegetarian food habits. It is an established fact that non-vegetarian food habits not only promote violence but also are harmful to our mind, body and spiritual soul. It has been medically shown that non-vegetarian food habits are responsible for many types of diseases. Similarly, drinking filtered water and eating before sunset are also medically proved good life-style habits as they prevent many types of harmful infections, indigestion, acidity and reflux problems.

The principle of *Aparigraha* is about practicing renunciation of materialistic possessions, controlling anger, greed etc. For example, a family person should only earn and possess just enough to meet his ends and to lead a simple life, and the excess money and other materialistic possessions should be donated to the people, community and society in need. *Aparigraha* allows peaceful prevention of undue accumulation of capital in the hands of individuals. Consequently, such a practice can significantly help the societies and nations reach socio-economic equalization.

The principle of *Anekānta* is about respectful acceptance of multiple view-points and perspectives about any subject matter. Firstly, the human beings have limited, and often, differing and incomplete understanding and knowledge about a subject matter. Secondly, the thoughts and the understanding about a subject matter are presented, expressed and communicated with varying view-points. Sometime, these varying view-points are conflicting in nature and unacceptable by some other individuals. Jainism strikes a perfect balance by unifying and harmonizing the individual view-points into a predictable and acceptable whole based upon the theory of *Syādvāda*. In other words, the theory of *Syādvāda* is like a music orchestra that blends the individual discordant notes of different instruments into a perfect composition. The theory of *Syādvāda* teaches that there is no one independent individual correct view-point; there are multiple correct view-points and they all must be simultaneously true to facilitate "intellectual tolerance".

As is obvious, the principles of *Ahimsā*, *Anekānta* and *Aparigraha* are the right conduct, knowledge and vision. Jainism further believes that we all should be friendly to others, show compassion towards people in need and respect good people. Therefore, by practising the principles of Jainism, one inherently promotes and cultivates peaceful co-existence of individuals and societies not only with other human beings but also with all other living creatures, thereby also protecting our environment.

### Question (3)

***Anekāntavāda* and *Syādvāda* theories of Jainism teaches us the acceptance of different points of view. How can individuals practice this in everyday life to become more tolerant?**

**Question by:** Sanjay Kumar Jain, CISCO, USA

**Answer:** Individual can practice *Anekāntavāda* by following means:

- Listen to others
- Attempt to understand other person's viewpoints and not impose our own.
- Communicate your own viewpoints by educating others or using alternate communication mechanisms in a peaceful manner.
- Be flexible and adopting.

### Question (4)

**Jainism advocates total non-violence. How does one defend one self or one's country in the face of violence by others?**

**Answer:** Jainism prescribes absolute total non-violence for '*Munis*'. It strongly recommends total non-violence to the common man or woman like us; however it allows the common man or woman to defend oneself or one's country only when attacked by others.

## विद्यापीठ के प्रांगण में

### खरतरगच्छ शिरोमणि साध्वी डॉ. सौम्यगुणा श्री जी का पार्श्वनाथ विद्यापीठ से सानन्द विहार

खरतरगच्छ शिरोमणि स्वाध्याय निमग्ना परम पूज्य साध्वी डॉ. सौम्यगुणा श्री जी का साध्वीद्वय डॉ. स्थितप्रज्ञा श्री जी एवं डॉ. संवेगप्रज्ञा श्री जी म.सा. के साथ १ जनवरी २००९ को पार्श्वनाथ विद्यापीठ में अध्ययनार्थ आगमन हुआ था। आपने जैन विश्वभारती लाडनू से 'जैन विधि-विधान सम्बन्धी साहित्य का बृहद् इतिहास' विषय पर पी-एच.डी. की है। अपने इसी विषय को और अधिक विस्तार देने हेतु 'जैन विधि-विधान, तुलनात्मक व समीक्षात्मक अध्ययन' पर आप डी.लिट् कर रही हैं। आपके साथ ही पधारी (मुमुक्षु) मोनिका जी भी जैन विश्व भारती लाडनू से 'प्रशमरति प्रकरण' का दार्शनिक अध्ययन विषय पर पी-एच.डी. में संलग्न रहीं। साध्वी सौम्यगुणाश्रीजी ने अपने शोध से सम्बन्धित समस्याओं के सन्दर्भ में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्कृत विद्या के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् प्रो० गोपबन्धु मिश्रा जी से तथा अन्य सम्बन्धित विद्वानों से भी विचार विमर्श किया।

अपने प्रवास के दौरान आपने पार्श्वनाथ विद्यापीठ में आयोजित अनेक सम्मेलनों एवं व्याख्यानो में अपनी गरिमामयी उपस्थिति से शोध संस्थान का न केवल गौरव बढ़ाया अपितु सारगर्भित व आगमज्ञ वाणी से हमारा मार्गदर्शन भी किया। ३० मई २०१० को आप साध्वीद्वय के साथ पार्श्वनाथ विद्यापीठ से विहार कर भेलुपुर जैन मंदिर पहुँचीं। बड़ी संख्या में श्रद्धालुओं ने आपके साथ पद-यात्रा करते हुए आपको विदाई दी। विद्यापीठ के निदेशक प्रो. सुदर्शनलाल जैन, सहनिदेशक डॉ. श्रीप्रकाश पाण्डेय आदि ने अपने साथियों के साथ अश्रुपूरित नेत्रों से आपको विदा किया। दिनांक ३१.५.१० को प्रातः मंदिर में पूजा-अर्चन के पश्चात् आपने साध्वीद्वय व सहयोगियों के साथ विदा लेकर चातुर्मास हेतु प्रस्थान किया। आपके भावों की सम्प्रेषणशीलता, सहजता, वाणी की कोमलता सदैव हमारे साथ रहेगी। आप साध्वीद्वय के साथ पार्श्वनाथ विद्यापीठ में पुनः पधारें यही विद्यापीठ परिवार की कामना है।

११० : श्रमण, वर्ष ६१, अंक २ / अप्रैल-जून-१०

## पार्श्वचन्द्रगच्छ की नौ साध्वियों का पार्श्वनाथ विद्यापीठ में अध्ययनार्थ आगमन

दिनांक १५.६.२०१० को पार्श्वचन्द्रगच्छ की नौ साध्वियाँ परमपूज्य पुनीतकलाश्रीजी, परमपूज्य भव्यानन्दश्रीजी, परमपूज्य संयमरसाश्रीजी, परमपूज्य सिद्धान्तरसाश्रीजी, परमपूज्य नमनकलाश्रीजी, परमपूज्य शासनरसाश्रीजी, परमपूज्य संवेगरसाश्रीजी, परमपूज्य मैत्रीकलाश्रीजी, परमपूज्य नम्रशीलाश्रीजी, परमपूज्य गुरुकृपाश्रीजी म. तथा मुमुक्षु देवांशी विद्यापीठ के प्रांगण में अध्ययनार्थ पधारीं। ध्यातव्य है कि पार्श्वचन्द्र गच्छ का यह साध्वीसंघ स्व० प्रवर्तिनी आर्या प. पू. ऊंकारश्रीजी की निश्रा में सन् १९९९ से २००० तक यहाँ रहकर अध्ययन कर चुका है। वर्तमान में नौ साध्वियों में से पाँच साध्वियाँ पार्श्वनाथ विद्यापीठ से पी-एच.डी. करेंगी। अन्य सभी साध्वियों के साथ आप यहाँ रुककर अध्ययन करेंगी।

### पार्श्वनाथ विद्यापीठ में मासिक व्याख्यानमालायें सम्पन्न

जैन धर्म, कला, संस्कृति, इतिहास, पुरातत्त्व आदि विषयों में रुचि रखने वाले सुधीजनों के लिए पार्श्वनाथ विद्यापीठ के निदेशक के नेतृत्व में लाला हरजसराय जैन स्मृति व्याख्यानमाला के अन्तर्गत दिनांक २०.५.२०१० रविवार को मासिक व्याख्यानमाला का पुनः आरम्भ किया गया। इस व्याख्यानमाला के अन्तर्गत प्रथम व्याख्यान खरतरगच्छ शाखा की आगमज्ञ, विदुषी व सरलमना साध्वी डॉ. सौम्यगुणा श्री जी म.सा. द्वारा दिया गया।

#### १. 'आलोचना और प्रायश्चित्त'-डॉ. साध्वी सौम्यगुणाश्री

हम अपने दैनिक जीवन में नित्य अनेक अपराध करते हैं। उन अपराधों से निवृत्ति पाने हेतु हमें ऐसा क्या करना चाहिए जिससे पाप कर्म का बन्ध न हो, इसी उद्देश्य को दृष्टि में रखते हुए परम पूज्या साध्वी जी ने अपने सारगर्भित व्याख्यान द्वारा हमारा मार्गदर्शन किया और आलोचना और प्रायश्चित्त के विविध पक्षों पर प्रकाश डालते हुए दैनिक जीवन में उसके महत्त्व को प्रतिपादित किया।

#### २. "जैन इतिहास के महानायक चन्द्रगुप्त व कुमारपाल"- डॉ.रमेशचन्द्र जैन

१९ जून २०१० को लालाश्री हरजसराय जैन स्मृति व्याख्यानमाला के अन्तर्गत द्वितीय व्याख्यान "जैन इतिहास के महानायक चन्द्रगुप्त व कुमारपाल"

विषय पर डॉ. रमेशचन्द्र जैन, निदेशक, जैन विद्या अध्ययन एवं अनुसन्धान केन्द्र, वर्द्धमान कालेज, बिजनौर द्वारा दिया गया। व्याख्यान का आरम्भ परमपूज्य साध्वी श्री भव्यानन्द जी महा. द्वारा मंगलाचरण से हुआ। विषय पर व्याख्यान देते हुए विद्वान् वक्ता डॉ. रमेशचन्द्र जैन ने चन्द्रगुप्त के विषय में जैन शास्त्रों का उल्लेख करते हुए इतिहास के अनेक तथ्यों को उजागर किया तथा उसके सन्दर्भ में नवीन संभावनाएं व्यक्त कीं। इसी प्रकार उन्होंने कुमारपाल नरेश के जैन धर्म के प्रबल अनुयायी होने की बात को स्वीकार करते हुए जैन धर्म को उनके द्वारा दिये गये राज्याश्रय तथा जैन धर्म के क्षेत्र में उनके द्वारा दिये गये अवदानों पर भी प्रकाश डाला।

इस अवसर पर सम्पूर्णानन्द विश्वविद्यालय से प्रो० फूलचन्द्र जैन, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से प्रो. दीनबन्धु पाण्डेय, प्रो० कमलेश कुमार जैन, डॉ. अशोक कुमार जैन, लाल बहादुर संस्कृत विद्यापीठ दिल्ली से डॉ. अनेकान्त जैन, डॉ. अमृतलाल पाण्डेय, डॉ. आनन्द श्रीवास्तव, ओम प्रकाश सिंह, डॉ. शारदा सिंह डॉ. अंजनी कुमार मिश्र आदि विद्वान् उपस्थित थे। प्रो. सुदर्शनलाल जैन, निदेशक पार्श्वनाथ विद्यापीठ ने व्याख्यान के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए उपस्थित सभी विद्वानों के प्रति आभार प्रकट किया। कार्यक्रम का संचालन विद्यापीठ के सहनिदेशक डॉ. श्रीप्रकाश पाण्डेय ने किया।

**ISSJS-2010 Programme  
successfully completed at Parshwanath Vidyapeeth  
(8<sup>th</sup> June-3<sup>rd</sup> July 2010)**

**A Report**

A group of 44 foreigner students and scholars of ISSJS (International Summer School for Jaina Studies) divided in three groups (two Junior and one Senior) visited Parshwanath Vidyapeeth for Jaina Studies programme. The **First** Group of 14 students arrived on June 8<sup>th</sup> morning. During their stay from 8<sup>th</sup> June-11 June, 2010 they consulted Library and attended special lectures organized by ISSJS-PV Global Centre on different aspects of Jainism. The scholars who delivered their lectures for this group, prominent among them were Prof. M. N. P. Tiwari, Dept. of History of Art, Banaras Hindu University and Dr. Priyadarshana Jain, Associate Professor, Dept. of Jainology, University of Ma-

dras, Chennai. Prof. M.N.P. Tiwari delivered his lecture on *Jaina Art and Iconography* while Dr. Priyadarshana Jain gave her talk on '*Jaina Āgama Uttarādhyayana, Ratnakaraṇḍa-śrāvakācāra* and *Sallekhanā*. Prof. Tiwari highlighted the main features of Jaina Art and Iconography with help of more than two hundred visuals. Dr. Priyadarshana beautifully elaborated the contents from the verses of *Uttarādhyayana* and *Ratnakaraṇḍa-śrāvakācāra* with the help of Power Point Presentation putting into a lot of parables and stories.

The group also visited Jaina Temples, Ghats and enjoyed the Ganga Arti, sight-seeing and beautiful morning of Benaras. They also participated in Jaina Puja organized at Naria Digambara Jaina temple. On 11<sup>th</sup> June they left for New Delhi by Air. In first group following students and scholars completed their study:

1. Ms. Prof. N. Vally (Faculty member), Ontario, Canada, 2. Ms. Julie Anne Weaver, Kingston, Ontario, Canada, 3. Ms. Balbir Helen Gorrie, 4. Ms. Nina Kuchuk, Ontario, Canada; 5. Ms. Cameron Mary Helen, Montgomery, Ontario, Canada; 6. Ms. Collete Genevieve St. Onge, Ottawa, Ontario, Canada; 7. Mr. Bradley Michael Leo J. Boileau, Ottawa Ontario, Canada; 8. Ms. Marie-Josef Blanchard, Ottawa, Ontario, Canada, 9. Ms. Stephaine Machabee, Wooler, Ontario, Canada; 10. Mr. Guy Dondo, Gatineau, Ontario, Canada; 11. Ms. Alison Rose Mackenzie, Dandas, Ontario, Canada; 12. Mr. Andrew William Moores, Ontario, Canada, 13. Mr. Jakson Charles Byers, Woodlawn, Ontario, Canada.

The second Group of 16 students arrived PV on June 14<sup>th</sup> morning. During their stay from 14<sup>th</sup> June-17 June, 2010 they worked on their project allotted by ISSJS. They attended special lectures delivered by Prof. M. N. P. Tiwari, Dept. of History of Art, Banaras Hindu University on *Jaina Art & Iconography* and Dr. Kamla Jain, Former Associate Professor, Dept. of Philosophy, Jesus & Mary College, University of Delhi, on *Aṇuvratas, Pratikramaṇa, Six Essential Duties* and '*Penance.*' Dr. Jain

beautifully presented the Jaina accounts of *Aṇuvrata*, *Pratikramaṇa* and *Kṣamāpanā* with its divisions and sub-divisions in detail.

The group also visited Jaina Temples, Ghats, Ganga Arti at Dashashwamedha Ghat and enjoyed the sight-seeing and beautiful morning of Varanasi (Subahe-Benaras). They also participated in Jaina Puja organized at Bhelupur Jaina temple. On 17<sup>th</sup> June they left for New Delhi by Shivganga Express. In second group following students and scholars completed their study at PV.

1. Olson, Stephanie Rose Smith, USA; 2. Ms. Lory Mataele Mannering; 3. Abby Kualapai, Ulupii, Pacific Island; 4. H. K. Patrick, Hawaii; 5. Meegan O'Brien; 6. Brandie Miharu Ichiki, USA; 7. Mr. Kavin Mcleod, USA; 8. Strickland Rose Patricia; 9. Amanda Marie Spadafora; 10. Ms. Jocelyn Moya, USA; 11. Shelly Mac Kinnon; 12. Ms. Natalie Mondschein, Canada; 13. Ms. Erin Mac Donald, Canada; 14. Ms. Jin Qi (Chinese), China; 15. Ms. Maya Haddad, USA.

The **third** 6W Group of 11 senior scholars arrived PV on June 23<sup>th</sup> morning. For this group the first lecture was delivered by Prof. M. N. P. Tiwari on '*Jaina Art & Iconography*' Prof. Tiwari in his lecture highlighted the main features of Jaina Art and Iconography with the aid of audiovisuals. Param Pujya Sadhvi Bhavyanandji with her group also attended the lecture of Prof. Tiwari and appreciated the contents of the lecture. The next two lectures were delivered by Prof. N. H. Samtani, a renowned scholar of Buddhism on '*Meeting Points of Jainism and Buddhism*' and '*Concept of Soul and Liberation in Jainism and Buddhism*'.

In third group following scholars completed their study at PV.

1. Mr. Bartosek Josef, Cajkovskeno; 2. Miss. Kayla P. Keehu, USA; 3. Mr. P. Christian Haskett; 4. Mr. Hillman Seen, Ontario 5., Mr. Sean David Butler, USA; 6. Mrs. Ana Bebelacqua Brazelj, Slovenia; 7. Mr. Kragh, Kate, South Korea; 8. Prof. Kragh Timme, Ulrich, South Korea; 9. Dr. Nathan Bishop Robert Loewen, Canada; 10. Mr. Aukland,

११४ : श्रमण, वर्ष ६१, अंक २ / अप्रैल-जून-१०

Knut, Norway; 11. Mr. Brianne Graham Donaldson, USA;

On 27<sup>th</sup> June 2010 a Press Conference was held at PV regarding future Academic programmes. The Press conference was addressed by Dr. Shugan C. Jain, Director ISSJS, Prof. S.L. Jain, Director, Dr. S. P. Pandey, Asst. Director and Dr. Viney Jain. The Media person met the foreigner students individually and knew about their project undertaken and their experiences about their visit to India for Jaina Studies. In the Press Conference leading scholars were also called to share their views in elevating Parshwanath Vidyapeeth academically as well as financially. Noted among them were Prof. Rewa Prasad Dwivedi, Prof. R.C. Panda, Prof. Kamalesh Dutta Tripathi, Prof. Kamalesh Jain and Prof. Phool Chand Jain. They shared their views about developing the Institute by running intensive courses on Prakrit and Jainology along with some more innovative programmes.

From 28<sup>th</sup> June 2010 to 3<sup>rd</sup> July 2010 the scholars of ISSJS worked on their individual projects allotted by ISSJS itself. They consulted Library of Parshwanath Vidyapeeth in order to complete their projects.

### **Proposed Seminar:**

**A Series of Seminars on Integrating Modern Science and Spirituality for Social Wellness: A Challenge of 21st Century**

Our biggest challenge in the 21st century is to integrate the religious, spiritual and scientific knowledge into a generally acceptable holistic world-view to form the basis for an ethical, nonviolent and eco-friendly way of life for maximizing social and personal well being.

To facilitate progress towards accomplishing this formidable task, International School for Jain Studies in association with some of the leading Indian universities/institutes is pleased to announce three interdisciplinary seminars cum discussion meetings, one each at Delhi, Varanasi and Jaipur with the following objectives.

**Objectives:**

- To critically review and evaluate various aspects of current interactions between different disciplines of modern science and spirituality in the context of social wellness.
- To develop an ethical system based on a holistic world-view taking into account both the scientific and spiritual perspectives.
- To establish a Multidisciplinary Task Force to identify feasible research areas/problems and formulate projects for focused and coordinated research, with national and international collaborations.

Venues & Dates for the Seminars (tentative and subject to confirmation)

Place	University	Dates
Delhi	LSSVP/ DU	December 11- 12, 2010
<b>Focal Theme:</b> A. Consciousness and Knowledge		
Varanasi	PV-BHU	January 22 -23 2011
<b>Focal Theme:</b> B1. Jīva, Karma, Rebirth, Puruśārtha and Spiritual Evolution.		
B2. Scientific, Personal & Social Dimensions of Spirituality.		
Jaipur	RU	February 19 - 20, 2011
<b>Focal Theme:</b> C. Ethics based on an Integrated World-View		

**Coordinators of the Seminars:**

Prof.. Veer Sagar Jain	LBSSVP, New Delhi	Coordinator, A
Prof. K. Murlidhar	DU, Delhi	Coordinator, A
Prof. S.L. Jain	PV, Varanasi	Coordinator, B1
Dr. S. P. Pandey	PV, Varanasi	Coordinator, B2
Prof. Kusum Jain	RU, Jaipur	Coordinator, C

**Contact Persons for Detailed Information:**

Convener: **Prof. Viney Jain**, Advisor ISJS, (+91-98181 86570)  
Chairman Program Committee: **Dr. Shugan C. Jain**, Chairman ISJS (+91-98181 39000). Mail:

**International School for Jain Studies**

D-28 Panchsheel Enclave, New Delhi-110 017

E-mail: isjs\_seminars@yahoo.in; vineykjain@yahoo.com;  
svana@vsnl.com

**Secretariat: Ms. Chanchal Jain**

Phone #: +91-11-2649 1228; +91-9971803638.

## प्राच्य विद्यापीठ शाजापुर की उपलब्धियाँ (साध्वी प्रतिभा जी को पी-एच.डी. की उपाधि)

प्राच्य विद्यापीठ शाजापुर में शोधकार्यरत साध्वी प्रतिभा जी को उनके शोध-प्रबन्ध “आराधना पताका में प्रतिपादित समाधि-मरण की अवधारणा” विषय-पर जैन विश्व भारती लाडनू से पी-एच.डी. की उपाधि प्रदान की गयी। ध्यातव्य है कि इसके पूर्व भी शाजापुर, प्राच्य विद्यापीठ से १९ छात्र-छात्राएं पी-एच.डी. की उपाधि ग्रहण कर चुके हैं। साध्वी प्रतिभा जी ने अपना शोध-कार्य डॉ. सागरमल जैन के निर्देशन में पूरा किया। शोधकार्य के अतिरिक्त विद्यापीठ में अनेक प्राकृत और संस्कृत भाषा के मूल ग्रन्थों तथा शोध ग्रन्थों का प्रकाशन भी किया जाता रहा है। संस्था के द्वारा इसी वर्ष डॉ. सागरमल जैन के शोध-प्रबन्ध “जैन, बौद्ध और हिन्दू धर्म दर्शन के सन्दर्भ में भारतीय आचार दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन” नामक ग्रन्थ दो खण्डों में प्राकृत भारती जयपुर की सहभागिता से प्रकाशित हुआ है। अन्य भी कुछ महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं जो प्रकाशन की प्रक्रिया में चल रहे हैं।

### शोक समाचार

#### अहिंसा के अग्रदूत आचार्यश्री महाप्रज्ञ का महाप्रयाण

अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त आध्यात्मिक सन्त शिरोमणि, प्रेक्षाध्यान के प्रवर्तक, अहिंसा-यात्रा के अनुयायी, तेरापंथ धर्मसंघ के दशवें आचार्य महाप्रज्ञ का दिनांक ९ मई २०१० को राजस्थान के चुरु शहर में समाधिपूर्वक महाप्रयाण हो गया। चातुर्मास के लिए चुरु पहुँचे आचार्य महाप्रज्ञ को अचानक दिल का दौरा पड़ा और डाक्टरों के अथक प्रयासों के बावजूद भी उन्हें बचाया न जा सका।

आचार्य महाप्रज्ञ के महाप्रयाण की खबर सुनकर पूरा देश शोक संतप्त हो गया। उनके अन्तिम दर्शनार्थ देश भर से श्रावक-श्राविकाओं, उपासक-उपासिकाओं के चुरु आने का क्रम प्रारम्भ हो गया। आचार्यश्री के व्यक्तित्व और कृतित्व को स्मरण में रखते हुए अनेक स्थानों पर उन्हें भावभीनी श्रद्धांजलियाँ दी गयीं और सरकार से महाप्रज्ञ जी को ‘भारत रत्न’ प्रदान करने की माँग की गयी। अहिंसा यात्रा के प्रेरक व अध्यात्म क्षेत्र में अपने प्रभावी व्यक्तित्व व अनेकप्रकार के साहित्यिक कृतियों के लिये विख्यात आचार्य महाप्रज्ञ जी का महाप्रयाण

निश्चित ही एक अपूरणीय क्षति है। एक सन्त जीवन का अन्तःपरीक्षण उनके सम्पूर्ण मानवीय विकासात्मक परम्पराओं के अनुशीलन पर निर्भर करता है। आचार्यश्री ऐसे ही उदारचेता, अहिंसाप्रिय पुरुष थे। उनका यह महाप्रयाण कायोत्सर्ग मात्र ही कहा जायेगा। क्योंकि उन्होंने अपने अनेकों प्रवचनों में काया को धर्मशाला कहा है। धर्मसंघ में उन्होंने मर्यादा को सदैव महत्त्व दिया। अपने गुरु आचार्य तुलसी की तरह निज पर शासन किया और अनुशासन पर जोर दिया। उन्होंने प्रेक्षाध्यान के रूप में जैन-योग का शोधन और प्रवर्तन कर योग के क्षेत्र में अपूर्व योगदान दिया। उनके महाप्रयाण से न केवल जैन जगत् अपितु सम्पूर्ण मानव जगत् की जो आध्यात्मिक क्षति हुई है उसकी पूर्ति असंभव सी लगती है। आचार्य श्री की आत्मा जहाँ कहीं भी होगी जैन विद्या के उपासकों को आलोक व प्रेरणा प्रदान करती रहेगी, ऐसी हमारी भावना है। उनके इस महाप्रयाण पर समस्त पार्श्वनाथ विद्यापीठ परिवार ने उन्हें भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित की तथा उनके मार्ग पर चलने का भाव अभिव्यक्त किया।

## पावागिरि सिद्धक्षेत्र के अध्यक्ष एवं निर्माण मंत्री का दुःखद निधन

मध्य प्रदेश में स्थित पावागिरि सिद्धक्षेत्र के अध्यक्ष श्री विमल चंद जैन का आसाम के खारुपेटिया जिले में ७ मई २०१० रात्रि एक बजे कार दुर्घटना में निधन हो गया। इस सन्दर्भ में सनावद में १० मई को प्रातः ९ बजे शोक सभा रखी गयी जिसमें देश की अनेक विशिष्ट हस्तियाँ भी सम्मिलित हुईं। पार्श्वनाथ विद्यापीठ की ओर से श्री जैन को हार्दिक श्रद्धांजलि।

## आचार्यश्री बाहुबली सागर जी महाराज का समाधिमरण

सिद्धान्त तीर्थ शिकोहपुर के प्रणेता आचार्यश्री बाहुबलीसागर जी महाराज का दिनांक १० मई २०१० को सायं ५ बजे सल्लेखनापूर्वक समाधिमरण हो गया। आचार्यश्री पिछले कुछ दिनों से अस्वस्थ चल रहे थे। अंततोगत्वा उन्होंने शरीर त्याग का निश्चय किया और १० मई सायं ५ बजे चूलगिरि सिद्धक्षेत्र में अपनी नश्वर काया का त्याग किया। अनेक जैन आगमिक ग्रन्थों को प्रकाश में लाने के क्षेत्र में आपने जो आदर्श स्थापित किया, वह हम सभी के लिये सदैव प्रकाश स्तम्भ की भाँति कार्य करता रहेगा। ऐसे महामनस्वी के निधन पर विद्यापीठ परिवार उन्हें हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करता है।

## साहित्य सत्कार

### पुस्तक समीक्षा

**योगशास्त्र**— लेखक हेमचन्द्र, हिन्दी अनु.— पद्मसूरि, सम्पादक— मुनिश्री जयानन्द विजयजी, प्रकाशक श्री गुरुरामचन्द्र प्रकाशन समिति, भीनमाल (राज.)

प्रस्तुत कृति कलिकाल सर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्य की स्वरचित कृति है। यद्यपि जैन योग पर अब तक अनेक ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है तथापि अपनी स्वोपज्ञ व्याख्या तथा सरल हिन्दी अनुवाद की दृष्टि से यह ग्रन्थ अपने आप में महत्त्वपूर्ण कृति है। जैन दर्शन में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इन तीनों की समवेत साधना से ही मुक्ति मानी गयी है। आचार्य श्रीहेमचन्द्र ने 'अभिधान चिन्तामणिकोश' में कहा है "मोक्षोपाय-योगो ज्ञानश्रद्धानचरणात्मकः अर्थात् ज्ञान, दर्शन, चारित्र ये तीनों ही मोक्ष के उपाय हैं। योगशास्त्र मुख्यतः इन्हीं तीनों से सम्बन्धित है।

जैसा कि हम जानते हैं कि भारतीय दर्शन अथवा धर्म में वर्णित योगशास्त्र में योग को यम, नियमादि आठ अंगों में विभाजित कर उन्हें चित्तवृत्ति निरोध से लेकर सर्वभूमिकाओं तक की परिधि में बाँध दिया गया है किन्तु आचार्य हेमचन्द्र ने न केवल मुनि अपितु गृहस्थ तथा अन्य जनों को भी उच्च आध्यात्मिक स्तर तक पहुँचाने के लिये यौगिक अंगों को प्रतिपादित करते हुए भी सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्र इन तीनों को परमात्म स्वरूप प्राप्त करने का साधन माना है। उन्होंने सरलता से ग्राह्यता की दृष्टि से सम्बन्धित विषय से जुड़े अनेक रोचक तथ्यों का भी प्रयोग किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ के आरम्भ में ही योग का माहात्म्य, उसकी गरिमा, साधना के फल और चमत्कारों का इतना सजीव वर्णन है कि हर जिज्ञासु साधक योग-साधना के लिए आकर्षित होकर अपने जीवन को उसी में ढाल लेने के लिए प्रयत्नशील हो सकता है।

योगशास्त्र में कुल १२ प्रकाश के अन्तर्गत १०१२ श्लोक हैं। पहले से तीसरे प्रकाश में योग के यम व नियम की जैन दृष्टि से विवेचना की गयी है। कहीं-कहीं तुलनात्मक रूप से अन्य दर्शनों के साथ उसकी तुलना भी परिलक्षित होती है। चौथे प्रकाश में क्रमशः कषाय-विजय, चित्त वृत्ति, चित्त शुद्धि, इन्द्रिय निग्रह, समत्व ध्यान, अनुप्रेक्षा, मैत्री आदि भावनाओं एवं उनके आसनों की विशद विवेचना की गयी है। पाँचवें प्रकाश के अन्तर्गत प्राणायाम और उसकी भूमियों आदि का वर्णन है। छठे प्रकाश में प्रत्याहार, धारणा, सातवें प्रकाश में ध्यान, आठवें प्रकाश में पदस्थ, नवमें प्रकाश में रूपस्थ, तथा दसवें प्रकाश में रूपातीत ध्यान का वर्णन तथा अन्तिम दो प्रकाशों-ग्यारहवें व बारहवें में धर्मध्यान, शुक्लध्यान, निर्विकल्प समाधि आदि की विस्तृत विवेचना जैन दृष्टि से की गयी है। निश्चय ही पद्मसूरिजी द्वारा अनुवादित यह पुस्तक रोचक और अनेक प्रश्नों का समाधान करने वाली है। पुस्तक की साज-सज्जा आकर्षक एवं मुद्रण त्रुटिरहित है। यह पुस्तक शोधार्थियों एवं पुस्तकालयों के लिये पठनीय एवं संग्रहणीय है।

-डॉ. शारदा सिंह, शोधार्थिकारी, पार्श्वनाथ विद्यापीठ

## साभार-प्राप्ति

(क) आचार्य विराग सागर द्वारा लिखित / संपादित / संकलित एवं श्री सम्यग्ज्ञान दिगम्बर जैन विराग विद्यापीठ द्वारा प्रकाशित ग्रन्थ-

१. शुद्धोपयोग, २००९, मूल्य : ४०.००
२. जीवों पर दया करो, शुद्ध शाकाहार करो, २००९, मूल्य : २०.००
३. संस्कार-सुरभि
४. कल्याणक महोत्सव, २००७, मूल्य : २०.००
५. परम दिगम्बर जैन मुनि, २००९, मूल्य : ४५.००
६. श्रद्धा-प्रसून, २००७, मूल्य : २५.००
७. कर्म विज्ञान, भाग-१, २००९
८. Bal Vigyan, Part-1, मूल्य : १०.००
९. तीर्थंकर ऐसे बनो, २००७, मूल्य ६०.००
१०. चैतन्य चिंतन, भाग-१, मूल्य : १५.००
११. बारसाणुवेक्खा, २०१०, मूल्य : १००.००
१२. सल्लेखना से समाधि, मूल्य : ४०.००
१३. भावों का विशुद्ध क्षण, मूल्य : २०.००
१४. दान तीर्थ, मूल्य : २०.००
१५. बुराइयाँ ही जेल, अच्छाइयाँ ही मुक्ति
१६. भगवान् श्री महावीर, सुभाषित-सहस्रम्
१७. अक्षयनिधि, मूल्य : १०.००
१८. विमल नित्य पाठावली, २००९, मूल्य : ५०.००
१९. नैतिक कथा मंजूषा, भाग-२, मूल्य : २०.००
२०. समयोचित शिक्षाएँ
२१. मानतुंग की अमर भक्ति, समायोजक, आचार्य विराग सागर, मूल्य : ६५.००
२२. सर्वोदयी जैन दिगम्बर तीर्थ, २००६, मूल्य ३०.००
२३. विराग मंथन, मूल्य : ७.००
२४. सम्यग्दर्शन, मूल्य : ३५.००
२५. सामायिक पाठ, २००८, मूल्य ११.००

(ख) अन्य लेखकों द्वारा लिखित तथा विराग विद्यापीठ के सौजन्य से प्राप्त-

२६. भक्ति की झंकार, रचयित्री-आर्यिका-वियुक्तश्री, प्रकाशक सम्यग्ज्ञान, दिगम्बर जैन विराग विद्यापीठ, भिण्ड (म.प्र.)
२७. विरागसेतु (महाकाव्य), लेखक, डॉ. उदयचंद्र जैन, प्रकाशक, विरागोदय जैन श्रमण संस्कृति ट्रस्ट, दिल्ली, २००८, मूल्य : १००.००
२८. Know Your Enemies, लेखक-विराग सागर जी महाराज, प्रकाशक,

श्री विरागोदय ट्रस्ट, २००८

२९. विराग सिन्धु की उर्मियाँ, लेखक कान्ति कुमार 'करुण', प्रकाशक, श्री सम्यग्ज्ञान दिगम्बर जैन विराग विद्यापीठ, भिण्ड (म.प्र.) मूल्य : २०.००
  ३०. दिगम्बर साधुओं का आदर्श मिलन, लेखक, विराग सागर जी महाराज, प्रकाशक- श्री सम्यग्ज्ञान शिक्षण समिति, नागपुर (महा.) २००७
  ३१. आध्यात्मिक शंका समाधान, लेखक- विराग सागर जी महा., प्रकाशक- पॉप्युलर प्रकाशन, सूरत (गुज.), २००९, मूल्य : ३०.००
  ३२. आवश्यक दीपिका, (श्रावक दिनचर्या) संकलनकर्ता-दीपचंद जैन, प्रकाशक- श्री सम्यग्ज्ञान विराग विद्यापीठ, भिण्ड (म.प्र.) मूल्य : २०.००
  ३३. भक्तामर स्तोत्र, लेखक- मुनि श्री विनम्र सागर जी महा., प्रकाशक- श्री विराग सागर विद्यापीठ, भिण्ड (म.प्र.)
  ३४. समायोचित् शिक्षार्थे, भाग-३, संकलन- पू. आर्यिका १०५ विशिष्ट श्री माता जी, प्रकाशक- श्री सम्यग्ज्ञान दिगम्बर जैन विराग विद्यापीठ, भिण्ड (म.प्र.) २००८, मूल्य : १८.००
  ३५. श्रीद्वादशव्रतकथासंग्रह : श्री अजितप्रभसूरिविचित, संपादक- संशोधक - मुनिराज जयानंद विजय, प्रकाशक- गुरुश्री रामचन्द्र प्रकाशन समिति, भीनमाल, (राज.)
  ३६. श्रीमुनिपतिचरित्रम् पूर्वाचार्यकृतम्, संपादक-संशोधक-मुनिराजश्री जयानंदविजय एवं गुणानुरागी मुनि भगवन्त, प्रकाशक- गुरुश्री रामचन्द्र प्रकाशन समिति, भीनमाल (राज.)
  ३७. योगशास्त्र, लेखक-हेमचन्द्र, हिन्दी अनुवाद-पद्मसूरि, संपादक-मुनिश्री जयानन्दविजय जी, प्रकाशक- श्री गुरु रामचन्द्र प्रकाशन समिति, भीनमाल, (राज.)
  ३८. श्रीप्रभावक चरित्र, लेखक- प्रभाचंद्रसूरि, संपादक-जयानंद विजयजी, प्रकाशक-श्रीगुरु रामचन्द्र प्रकाशक समिति, भीनमाल, (राज.)
- ( ग ) प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर से प्राप्त पुस्तकें-
३९. भारतीय आचार-दर्शन, (जैन, बौद्ध, हिन्दू धर्म के सम्बन्ध में) एक तुलनात्मक अध्ययन, भाग-१ (सैद्धान्तिक पक्ष) लेखक- डॉ. सागरमल जैन, प्रकाशक-प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर (राज.) प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर (म.प्र.) २०१०।
  ४०. भारतीय आचार-दर्शन (जैन, बौद्ध, हिन्दू धर्म के सम्बन्ध में) : एक तुलनात्मक अध्ययन, भाग-२ (व्यावहारिक पक्ष) लेखक- डॉ. सागरमल जैन, प्रकाशक- प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर (राज.) एवं प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर (म.प्र.)
  ४१. बौद्ध दर्शन का समीक्षात्मक अध्ययन, लेखक- साध्वी ज्योत्सना जी, सम्पादक एवं मार्गदर्शक- प्रो. सागरमल जैन, प्रकाशक- प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर (म.प्र.) एवं श्वेताम्बर, स्थानकवासी जैन संघ, शुजालपुर (म.प्र.)।

# NO PLY, NO BOARD, NO WOOD



## **ONLY NUWUD<sup>®</sup>**

### INTERNATIONALLY ACCLAIMED

*Nuwud MDF is fast replacing ply, board and wood in offices, homes & industry, As ceilings*

### DESIGN FLEXIBILITY

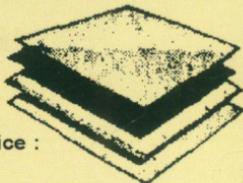
*flooring furniture, mouldings, panelling, doors, windows... and almost infinite variety of*

### VALUE FOR MONEY

*woodwork. So, if you have woodwork in mind, just think **NUWUD MDF***



Registered Head Office :  
20/6, Mathura Road,  
Faridabad-121006,  
HARYANA.  
Tel: +91 129 230400-6,  
Fax: +91 129 5061037.



REG. 12/06



*The one wood for  
all your woodwork*

#### Marketing Offices

**Ahmedabad** : 502, Anand Mangal, Complex-1, Behind Omkar House, Near Swastika Charrasta, C.G Road, Ahmedabad-380009. Tel: 079-30958929, 31028976, Fax: 079-26466585. **Bangalore** : D 1/4, Hayes Court, 11/9 Hayes Road, Richmond Town, Bangalore. Tel: 080-30958040, 22279219, Fax: 080-22279219. **Delhi/UP** : E-46/12, Okhala Industrial Area, Phase II, New Delhi-110020. Tel: 011-26385737, 26383234, 26384656, Fax: 011-41611846. **Chennai** : Tyagraj Complex, No 583, (New No. 250), 4A, 4<sup>th</sup> Floor, Poonamalee High Road, Kilpauk, Chennai-600010. Tel: 044-30970880, Fax: 044-25323731. **Hyderabad** : A-3, View Towers, 6-2-1, Lakadi Ka Pul, Hyderabad-560904. Tel: 040-30935561, 23307604, 23314794. **Kerala** : 33/1560-G, Chakkarakarampu Road, Vennala (P.O.), Engakulam, Kochi-682028. Tel: 0484-3969454, 3969452. **Jalandhar** : 29, G.T. Road, Kalra Building, Jalandhar-144001. Tel: 09316039144, 09347203593. **Jaipur** : 42, Dhuleshwar Garden, 1<sup>st</sup> floor, Near Ajmer Road, Jaipur-302001. Tel: 014-1-3028940, 270557, Fax: 0141-2214727. **Mumbai** : Shive Centre Office No. 214, 2<sup>nd</sup> Floor, Plot No. 72, Sec-17, Vashi Navi, Mumbai-400705. Tel: 022-39436667, 25002250, Fax: 022-25002250. **Pune** : 209, 2<sup>nd</sup> floor, Ashoka Mall, Opp. Hotel Sun N Sand, Bundgarden Road, Pune-411001. Tel: 020-39505076, 6121353, Fax: 020-26121353.